जैन आचार में अचेलकत्व और सचेलकत्व का प्रश्न

निर्ग्रन्थ-परम्परा में सचेलकत्व और अचेलकत्व का प्रश्न अति-प्राचीन काल से ही विवाद का विषय रहा है। वर्तमान में जो श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय हैं, उनके बीच भी विवाद का प्रमुख बिन्दु यही है। पहले भी इसी विवाद के कारण उत्तर भारत का निर्ग्रन्थ संघ विभाजित हुआ था और यापनीय सम्प्रदाय अस्तित्व में आया था। दूसरे शब्दों में इसी विवाद के कारण जैनों में विभिन्न सम्प्रदाय अर्थात् श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय निर्मित हुए हैं। यह समस्या मूलतः मुनि-आचार से ही सम्बन्धित है, क्योंकि गृहस्थ उपासक, उपासिकाएँ और साध्वियाँ तो तीनों ही सम्प्रदायों में सचेल (सवस्त्र) ही मानी गई हैं।

मुनियों के सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा की मान्यता यह है कि मात्र अचेल (नग्न) ही मुनि पद का अधिकारी है। जिसके पास वस्त्र है, चाहे वह लँगोटी मात्र ही क्यों न हो, वह मुनि नहीं हो सकता है।[1] इसके विपरीत श्वेताम्बरों का कहना है कि मुनि अचेल (नग्न) और सचेल (सवस्त्र) दोनों हो सकते हैं।[2] साथ ही वे यह भी मानते हैं कि वर्तमान काल की परिस्थितियाँ ऐसी हैं जिसमें मुनि का अचेल (नग्न) रहना उचित नहीं है। इन दोनों परम्पराओं से भिन्न यापनीयों की मान्यता यह है कि अचेलता ही श्रेष्ठ मार्ग है, किन्तु आपवादिक स्थितियों में मुनि वस्त्र रख सकता है।[3] इस प्रकार जहाँ दिगम्बर परम्परा एकान्त रूप से अचेलकत्व को ही मुनि-मार्ग या मोक्ष-मार्ग मानती है, वहाँ श्वेताम्बर परम्परा वर्तमान में जिनकल्प (अचेल-मार्ग) का उच्छेद दिखाकर सचेलता पर ही बल देती है। यापनीय परम्परा का दृष्टिकोण इन दोनों अतिवादियों के मध्य समन्वय करता है। वह मानती है कि सामान्यतया तो मुनि को अचेल या नग्न ही रहना चाहिये, क्योंकि वस्त्र भी परिग्रह ही है, किन्तु आपवादिक स्थितियों में संयमोपकरण के रूप में वस्त्र रखा जा सकता है। उसकी दृष्टि में अचेलकत्व (नग्नत्व) उत्सर्ग मार्ग है और सचेलकत्व अपवाद मार्ग है।

प्रस्तुत परिचर्चा में सर्वप्रथम हम इस विवाद को इसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयत्न करेंगे कि यह विवाद क्यों, कैसे और किन परिस्थितियों में उत्पन्न हुआ?

प्रस्तुत अध्ययन की स्रोत-सामग्री

इस प्रश्न पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने हेतु हमारे पास जो प्राचीन स्रोत-सामग्री उपलब्ध है, उसमें प्राचीन स्तर के अर्धमागधी आगम, पालित्रिपिटक और मथुरा से प्राप्त प्राचीन जिन-प्रतिमाओं की पाद-पीठ पर अंकित मुनि-प्रतिमाएँ ही मुख्य हैं। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य अर्धमागधी आगमों में आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक ही ऐसे ग्रन्थ हैं जिन्हें इस चर्चा का आधार बनाया जा सकता है, क्योंकि प्रथम तो ये प्राचीन (ई०पू० के) है और दूसरे इनमें हमें सम्प्रदायातीत दृष्टिकोण उपलब्ध होता है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी इनकी प्राचीनता एवं सम्प्रदाय-निरपेक्षता को स्वीकार किया है। शौरसनी आगम साहित्य में कसायपाहुड ही एकमात्र ऐसा ग्रन्थ है, जो अपेक्षाकृत प्राचीन स्तर का है, किन्तु दुर्भाग्य से इसमें वस्त्र-पात्र सम्बन्धी कोई भी विवरण उपलब्ध नहीं है। शेष शौरसेनी आगम-ग्रन्थों में भगवती-आराधना, मूलाचार और षट्खण्डागम मूलतः यापनीय परम्परा के हैं। साथ ही गुणस्थान-सिद्धान्त आदि की परवर्ती अवधारणाओं की उपस्थिति के कारण ये ग्रन्थ भी विक्रम की छठी शती के पूर्व के नहीं माने जा सकते हैं, फिर भी प्रस्तुत चर्चा में इनका उपयोग इसलिये आवश्यक है कि अचेल पक्ष को प्रस्तुत करने के लिये इनके अतिरिक्त अन्य कोई प्राचीन स्रोत-सामग्री हमें उपलब्ध नहीं है। जहाँ तक कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का प्रश्न है, उनमें सुत्तपाहुड एवं लिंगपाहुड को छोड़कर यह चर्चा अन्यत्र कहीं नहीं मिलती है। ये ग्रन्थ भी छठीं शती के पूर्व के नहीं हैं। दुर्भाग्य यह है कि अचेल परम्परा के पास सचेलकत्व और अचेलकत्व की इस परिचर्चा के लिये छठी शती के पूर्व की कोई भी सामग्री उपलब्ध नहीं है। यद्यपि दिगम्बर-परम्परा इन ग्रन्थों का काल प्रथम-द्वितीय शताब्दी नहीं मानती है।

जहाँ तक अन्य परम्पराओं के प्राचीन स्रोतों का प्रश्न है, वेदों में नग्न श्रमणों या व्रात्यों के उल्लेख तो मिलते है, किन्तु वे स्पष्टतः निर्ग्रन्थ (जैन) परम्परा के हैं, यह कहना कठिन है। यद्यपि अनेक हिन्दू पुराणों में नग्न जैन श्रमणों के उल्लेख हैं, किन्तु अधिकांश हिन्दू पुराण तो विक्रम की पाँचवीं-छठी शती या उसके भी बाद के हैं, अतः उनमें उपलब्ध साक्ष्य अधिक महत्त्व के नहीं हैं। दूसरे उनमें सवस्त्र और निर्वस्त्र दोनों प्रकार के जैन मुनियों के उल्लेख मिल जाते हैं, अतः उन्हें इस परिचर्चा का आधार नहीं बनाया जा सकता है।

इस दृष्टि से पालित्रिपिटक के उल्लेख अधिक महत्त्वपूर्ण हैं और किसी सीमा तक सत्य के निकट भी प्रतीत होते हैं। इस परिचर्चा के हेतु जो आधारभूत प्रामाणिक सामग्री हमें उपलब्ध होती है, वह है मथुरा से उपलब्ध प्राचीन जैन मूर्तियाँ और उनके अभिलेख। प्रथम तो यह सब सामग्री ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी की है। दूसरे इसमें किसी भी प्रकार के प्रक्षेप आदि की सम्भावना भी नहीं है। अतः यह प्राचीन भी है और प्रामाणिक भी क्योंकि इसकी पुष्टि अन्य साहित्यिक स्रोतों से भी हो जाती है। अतः इस परिचर्चा में हमने सर्वाधिक उपयोग इसी सामग्री का किया है।

महावीर के पूर्व निर्ग्रन्थ-संघ में वस्त्र की स्थिति

जैन अनुश्रुति के अनुसार इस अवसर्पिणी काल में भगवान् महावीर से पूर्व तेईस तीर्थङ्कर हो चुके थे। अतः प्रथम विवेच्य बिन्दु तो यही है कि अचेलता के सम्बन्ध में इन पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों की क्या मान्यताएँ थीं? यद्यपि सम्प्रदाय-भेद स्थिर हो जाने के पश्चात् निर्मित ग्रन्थों में जहाँ दिगम्बर ग्रन्थ एक मत से यह उद्घोष करते हैं कि सभी जिन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अचेल होकर ही दीक्षित होते है,[४] वहाँ श्वेताम्बर ग्रन्थ यह कहते हैं कि सभी जिन एक देवदूष्य वस्त्र लेकर ही दीक्षित होते हैं।[५] मेरी दृष्टि में ये दोनों ही दृष्टिकोण साम्प्रदायिक अभिनिवेश से युक्त हैं। श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा के अपेक्षाकृत प्राचीन स्तर के ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख मिलता है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर की आचार-व्यवस्था मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्करों की आचार-व्यवस्था से भिन्न थी।[६] यापनीय ग्रन्थ मूलाचार प्रतिक्रमण आदि के सन्दर्भ में उनकी इस भिन्नता का तो उल्लेख करता है किन्तु मध्यवर्ती तीर्थङ्कर सचेल धर्म के प्रतिपादक थे, यह नहीं कहता है। जबकि श्वेताम्बर आगम उत्तराध्ययन में स्पष्ट रूप से यह भी उल्लेख है कि अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर ने अचेल धर्म का प्रतिपादन किया, जबकि तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ ने सचेल धर्म का प्रतिपादन किया था।[७] यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि बृहत्कल्पभाष्य में प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर को अचेल धर्म और मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्करों को सचेल-अचेल धर्म का प्रतिपादक कहा गया है।[८] यद्यपि उत्तराध्ययन स्पष्टतया पार्श्व के धर्म को 'सचेल' अथवा सान्तरोत्तर (संतरुत्तर) ही कहता है, सचेल-अचेल नहीं। 'मध्यवर्ती तीर्थङ्करों के शासन में भी अचेल मुनि होते थे', बृहत्कल्पभाष्य की यह स्वीकारोक्ति उसकी सम्प्रदाय-निरपेक्षता की ही सूचक है। यद्यपि दिगम्बर और यापनीय परम्परा श्वेताम्बर मान्य आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं के इन कथनों को मान्य नहीं करती हैं, किन्तु हमें श्वेताम्बर आगमों के इन कथनों में सत्यता परिलक्षित होती है, क्योंकि अन्य ऐतिहासिक स्रोतों से भी इन कथनों की बहुत कुछ पुष्टि हो जाती है।

यहाँ हमारा उद्देश्य सम्प्रदायगत मान्यताओं से ऊपर उठकर मात्र प्राचीन ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर ही इस समस्या पर विचार करना है। अत: इस परिचर्चा में हम परवर्ती अर्थात् साम्प्रदायिक मान्यताओं के दृढ़ीभूत होने के बाद के ग्रन्थों को आधार नहीं बना रहे हैं।

महावीर से पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों में मात्र ऋषभ, अरिष्टनेमि और पार्श्व के कथानक ही ऐसे हैं, जो ऐतिहासिक महत्त्व के हैं। यद्यपि इनमें भी ऋषभ और अरिष्टनेमि के कथानक प्रागैतिहासिक काल के हैं। वेदों से भी हमें इनके सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी (नामोल्लेख के अतिरिक्त) नहीं मिलती है। वेदों में भी ये नाम किस सन्दर्भ में प्रयुक्त हुए हैं, और किसके वाचक है, यह तथ्य आज भी विवादास्पद ही है। इन दोनों के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में जैन एवं जैनेतर स्रोतों से भी जो सामग्री उपलब्ध होती है वह ईसा की प्रथम शती के पूर्व की नहीं है।

वेदों एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों में व्रात्यों एवं वातरशना मुनियों के जो उल्लेख हैं[९], उनसे इतना तो अवश्य फलित होता है कि प्रागैतिहासिक काल में नग्न अथवा मलिन एवं जीर्णवस्त्र धारण करने वाले श्रमणों की एक परम्परा अवश्य थी। सिन्धुघाटी-सभ्यता की मोहन-जोदड़ो एवं हड़प्पा से जो नग्न योगियों के अंकन वाली सीलें प्राप्त हुई हैं उनसे भी इस तथ्य की ही पुष्टि होती है कि नग्न एवं मलिन वस्त्र धारण करने वाले श्रमणों/योगियों/व्रात्यों की एक परम्परा प्राचीन भारत में अस्तित्व रखती थी। उस परम्परा के अग्र-पुरुष के रूप में ऋषभ या शिव को माना जा सकता है। किन्तु यह भी ध्यातव्य है कि इन सीलों में उस योगी को मुकुट और आभूषणों से युक्त दर्शाया गया है जिससे उसके नग्न निर्ग्रन्थ मुनि होने के सम्बन्ध में बाधा आती है।[१०] ये अंकन श्वेताम्बर तीर्थङ्कर मूर्तियों से आंशिक साम्यता रखते हैं, क्योंकि वे अपनी मूर्तियों को आभूषण पहनाते हैं।

ऋषभ का अचेल धर्म

प्राचीन स्तर के अर्धमागधी आगम उत्तराध्ययन में ऋषभ के नाम का उल्लेख मात्र है, उनके जीवन के सन्दर्भ में कोई विवरण नहीं है। इससे अपेक्षाकृत परवर्ती कल्पसूत्र एवं जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में ही सर्वप्रथम उनका जीवनवृत्त मिलता है, फिर भी इनमें उनकी साधना एवं आचार-व्यवस्था का कोई विशेष विवरण नहीं है। परवर्ती श्वेताम्बर, दिगम्बर ग्रन्थों में और उनके अतिरिक्त हिन्दू पुराणों तथा विशेषरूप से भागवत में ऋषभदेव के द्वारा अचेलकत्व के आचरण के जो उल्लेख मिलते हैं, उन सबके आधार पर यह विश्वास किया जा सकता है कि ऋषभदेव अचेल परम्परा के पोषक रहे होंगे।[११] ऋषभ अचेल धर्म के प्रवर्तक थे, यह मानने में सचेल श्वेताम्बर परम्परा को भी कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि उसकी भी मान्यता यही है कि ऋषभ और महावीर दोनों ही अचेल धर्म के सम्पोषक थे।[१२]

ऋषभ के पश्चात् और अरिष्टनेमि के पूर्व मध्य के २० तीर्थङ्करों के जीवनवृत्त एवं आचार-विचार के सम्बन्ध में छठी शती के पूर्व अर्थात् सम्प्रदायों के स्थिरीकरण के पूर्व की कोई भी सामग्री उपलब्ध नहीं है। अर्धमागधी आगमों में मात्र समवायांग में और शौरसेनी के आगम-तुल्य ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति में उनके नाम, माता-पिता, जन्म-मरण आदि सम्बन्धी छिटपुट सूचनाएँ हैं, जो प्रस्तुत चर्चा की दृष्टि से उपयोगी नहीं हैं।

इस प्रकार मध्यवर्ती बाईसवें अरिष्टनेमि एवं तेईसवें पार्श्व ही ऐसे हैं जिनसे सम्बन्धित सूचनाएँ उत्तराध्ययन के क्रमश: बाईसवें एवं तेईसवें अध्ययन में मिलती हैं, किन्तु उनमें भी बाईसवें अध्ययन में अरिष्टनेमि की आचार-व्यवस्था का और विशेष रूप से वस्त्र-ग्रहण सम्बन्धी परम्परा का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। उत्तराध्ययन के बाईसवें अध्ययन में राजीमति के द्वारा गुफा में वर्षा के कारण भीगा हुआ अपना वस्त्र सुखाने का उल्लेख होने से केवल एक ही तथ्य की पुष्टि होती है कि अरिष्टनेमि की परम्परा में साध्वियाँ सवस्त्र होती थीं।[१३] उस गुफा में साधना में स्थित रथनेमि सवस्त्र थे या निर्वस्त्र, ऐसा कोई स्पष्ट संकेत इसमें नहीं है। अत: वस्त्र-सम्बन्धी विवाद में केवल पार्श्व एवं महावीर इन दो ऐतिहासिक काल के तीर्थङ्करों के सम्बन्ध में ही जो कुछ साक्ष्य उपलब्ध होते हैं, उनके आधार पर ही चर्चा की जा सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्व का सचेल धर्म

पार्श्व के सम्बन्ध में जो सूचनाएँ हमें उपलब्ध हैं उनमें भी प्राचीनता की दृष्टि से ऋषिभाषित (लगभग ई०पू० चौथी-पाँचवीं शती), सूत्रकृतांग (लगभग तीसरी-चौथी शती), उत्तराध्ययन (ई०पू० दूसरी शती), आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध (ई०पू० दूसरी शती) एवं भगवती (ई०पू० दूसरी शती से लेकर ईसा की दूसरी शती तक) के उल्लेख महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें भी ऋषिभाषित और सूत्रकृतांग में पार्श्व की वस्त्र-सम्बन्धी मान्यताओं की स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती। उत्तराध्ययन का तेईसवाँ अध्ययन ही एकमात्र ऐसा आधार है, जिसमें महावीर के धर्म को अचेल एवं पार्श्व के धर्म को सचेल या संतरुत्तर कहा गया है।[१४] इससे यह स्पष्ट है कि वस्त्र के सम्बन्ध में महावीर और पार्श्व की परम्पराएँ भिन्न थीं। उत्तराध्ययन की प्राचीनता निर्विवाद है और उसके कथन को अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता। पुन: निर्युक्ति, भाष्य आदि परवर्ती आगमिक व्याख्याओं से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है, अत: इस कथन की सत्यता में सन्देह करने का कोई स्थान शेष नहीं रहता है। किन्तु पार्श्व की परम्परा के द्वारा मान्य 'सांतरुत्तर' शब्द का क्या अर्थ है— यह विचारणीय है। सांतरुत्तर शब्द का अर्थ परवर्ती श्वेताम्बर आचार्यों ने विशिष्ट, रंगीन एवं बहुमूल्य वस्त्र किया है। उत्तराध्ययन की टीका में नेमिचन्द्र लिखते हैं— सान्तर अर्थात् वर्धमान स्वामी की अपेक्षा परिमाण और वर्ण में विशिष्ट तथा उत्तर अर्थात् महामूल्यवान् होने से प्रधान, ऐसे वस्त्र जिस परम्परा में धारण किये जायें वह धर्म सान्तरोत्तर है।[१५] किन्तु सान्तरोत्तर (संतरुत्तर) शब्द का यह अर्थ समुचित नहीं है। वस्तुत: जब श्वेताम्बर आचार्य अचेल का अर्थ कुत्सितचेल या अल्पचेल करने लगे[१६], तो यह स्वाभाविक था कि सान्तरोत्तर का अर्थ विशिष्ट, महामूल्यवान् रंगीन वस्त्र किया जाएं, ताकि अचेल के परवर्ती अर्थ में और संतरुत्तर के अर्थ में किसी प्रकार से संगति स्थापित की जा सके। किन्तु संतरुत्तर का यह अर्थ शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से उचित नहीं है। इससे इन टीकाकारों की अपनी साम्प्रदायिक मानसिकता ही प्रकट होती है। संतरुत्तर के वास्तविक अर्थ को आचार्य शीलांक ने अपनी आचारांग टीका में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।[१७] ज्ञातव्य है कि संतरुत्तर शब्द उत्तराध्ययन के अतिरिक्त आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में भी आया है।[१८] आचारांग में इस शब्द का प्रयोग उन निर्ग्रन्थ मुनियों के सन्दर्भ में हुआ है, जो दो वस्त्र रखते थे। उसमें तीन वस्त्र रखने वाले मूनियों के लिये कहा गया है कि हेमन्त के बीत जाने पर एवं ग्रीष्म ऋतु के आ जाने पर यदि किसी भिक्षु के वस्त्र जीर्ण हो गये हों तो वह उन्हें स्थापित कर दे अर्थात् छोड़ दे और सांतरोत्तर अथवा अल्पचेल (ओमचेल) अथवा एकशाटक अथवा अचेलक हो जाये।[१९] यहाँ संतरुत्तर की टीका करते हुए शीलांक कहते हैं कि अन्तर-सहित है उत्तरीय (ओढ़ना) जिसका, अर्थात् जो वस्त्र को आवश्यकता होने पर कभी ओढ़ लेता है और कभी पास में रख लेता है।[२०]

पं० कैलाशचन्द्रजी ने संतरुत्तर की शीलांक की उपरोक्त व्याख्या से यह प्रतिफलित करना चाहा है कि पार्श्व के परम्परा के साधु रहते तो नग्न ही थे, किन्तु पास में वस्त्र रखते थे, जिसे आवश्यकता होने पर ओढ़ लेते थे।[२१] किन्तु पण्डितजी की यह व्याख्या युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि संतरुत्तर से नग्नता किसी भी प्रकार फलित नहीं होती है। वस्तुत: संतरुत्तर शब्द का प्रयोग आचारांग में तीन वस्त्र रखने वाले साधुओं के सन्दर्भ में हुआ है और उन्हें यह निर्देश दिया गया है कि ग्रीष्म ऋतु के आने पर वे एक जीर्ण-वस्त्र को छोड़कर संतरुत्तर अर्थात् दो वस्त्र धारण करने वाले हो जायें। अत: संतरुत्तर होने का अर्थ अन्तरवासक और उत्तरीय ऐसे दो वस्त्र रखना है। अन्तरवस्त्र आजकल का अंडरवियर अर्थात् गुह्यांग को ढकने वाला वस्त्र है। उत्तरीय शरीर के ऊपर के भाग को ढकने वाला वस्त्र है। 'संतरुत्तर' की शीलांक की यह व्याख्या भी हमें यही बताती है कि उत्तरीय कभी ओढ़ लिया जाता था और कभी पास में रख लिया जाता था, क्योंकि गर्मी में सदैव उत्तरीय ओढ़ा नहीं जाता था। अत: संतरुत्तर का अर्थ कभी सचेल हो जाना और कभी वस्त्र को पास में रखकर अचेल हो जाना नहीं है। यदि संतरुत्तर होने का अर्थ कभी सचेल और कभी अचेल (नग्न) होना होता तो फिर अल्पचेल और एकशाटक होने की चर्चा इसी प्रसंग में नहीं की जाती। तीन वस्त्रधारी साधु एक जीर्ण वस्त्र का त्याग करने पर सांतरुत्तर होता है। एक जीर्ण वस्त्र का त्याग और दूसरे जीर्ण वस्त्र के जीर्ण भाग को निकालकर अल्प आकार का बनाकर रखने पर अल्पचेल, दोनों जीर्ण वस्त्रों का त्याग करने पर एकशाटक अथवा ओमचेल और तीनों वस्त्रों का त्याग करने पर अचेल होता है। वस्तुत: आज भी दिगम्बर परम्परा का क्षुल्लक सान्तरोत्तर है और ऐलक एकशाटक तथा मुनि नग्न (अचेल) होता है। अत: पार्श्व की सचेल सान्तरोततर परम्परा में मुनि दो वस्त्र रखते थे— अधोवस्त्र और उत्तरीय। उत्तरीय आवश्यकतानुसार शीतकाल आदि में ओढ़ लिया जाता था और ग्रीष्मकाल में अलग रख दिया जाता था।

आचारांग के नवें उपधानश्रुत नामक अध्याय में महावीर का जीवनवृत्त वर्णित है। ऐतिहासिक दृष्टि से महावीर की जीवन-गाथा के सम्बन्ध में इससे प्राचीन एवं प्रामाणिक अन्य कोई सन्दर्भ हमें उपलब्ध नहीं है। आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध, कल्पसूत्र, भगवती और बाद के सभी महावीर के जीवन-चारित्र सम्बन्धी ग्रन्थ इससे परवर्ती हैं और उनमें महावीर के जीवन के सथ जुड़ी अलौकिकताएँ यही सिद्ध करती हैं कि वे महावीर की जीवन-गाथा का अतिरंजित चित्र ही उपस्थित करते हैं। इसलिये महावीर के जीवन के सम्बन्ध में जो भी तथ्य हमें उपलब्ध हैं, वे प्रामाणिक रूप में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के इसी उपधानश्रुत में उपलब्ध हैं। इसमें महावीर के दीक्षित होने का जो विवरण है उससे यह ज्ञात होता है कि वे एक वस्त्र लेकर दीक्षित हुए थे और लगभग एक वर्ष से कुछ अधिक समय के पश्चात् उन्होंने उस वस्त्र का भी परित्याग कर दिया और पूर्णत: अचेल हो गये।[२२] महावीर के जीवन की यह घटना ही वस्त्र के सम्बन्ध में सम्पूर्ण जैन परम्परा के दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देती है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि महावीर ने अपनी साधना का प्रारम्भ सचेलता से किया, किन्तु कुछ ही समय पश्चात् उन्होंने पूर्ण अचेलता को ही अपना आदर्श माना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परवर्ती आगम ग्रन्थों में एवं उनकी व्याख्याओं में महावीर के एक वर्ष पश्चात् वस्त्र-त्याग करने के सन्दर्भ में अनेक प्रवाद या मान्यतायें प्रचलित हैं। यापनीय ग्रन्थ भगवती-आराधना और श्वेताम्बर आगमिक व्याख्याओं में इन प्रवादों या मान्यताओं का उल्लेख है।[२३] यहाँ हम उन प्रवादों में न जाकर केवल इतना ही बता देना पर्याप्त समझते हैं कि प्रारम्भ में महावीर ने वस्त्र लिया था और बाद में वस्त्र का परित्याग कर दिया। वह वस्त्र-त्याग किस रूप में हुआ यह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है।

यदि हम महावीर के समकालीन अन्य श्रमण-परम्पराओं की वस्त्र-ग्रहण सम्बन्धी अवधारणाओं पर विचार करें तो हमें ज्ञात होता है कि उस युग में सवस्त्र और निर्वस्त्र दोनों प्रकार की श्रमण-परम्पराएँ प्रचलित थीं। उनमें से पार्श्व के सम्बन्ध में उत्तराध्ययन और उसके परवर्ती साहित्य में जो कुछ सूचनाएँ उपलब्ध हैं, उन सबसे एक मत से पार्श्व की परम्परा, सवस्त्र परम्परा सिद्ध होती है। स्वयं उत्तराध्ययन का तेईसवाँ अध्ययन इस बात का साक्षी है कि पार्श्व की परम्परा सचेल परम्परा थी। इसी प्रकार बौद्ध परम्परा भी सचेल थी। दूसरी ओर आजीवक सम्प्रदाय पूर्णतः अचेलता का प्रतिपादक था। यह सम्भव है कि महावीर ने अपने वंशानुगत पार्श्वापत्यीय परम्परा के प्रभाव से एक वस्त्र ग्रहण करके अपनी साधना-यात्रा प्रारम्भ की हो। कल्पसूत्र में उनके दीक्षित होते समय आभूषण-त्याग का उल्लेख हैं वस्त्र-त्याग का नहीं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि महावीर उत्तर-बिहार के वैशाली जनपद में शीत ऋतु के प्रथम मास (मार्गशीर्ष) में दीक्षित हुए थे। उस क्षेत्र की भयंकर सर्दी को ध्यान में रखकर परिवार के लोगों के अति आग्रह के कारण सम्भवतः महावीर ने दीक्षित होते समय एक वस्त्र स्वीकार किया हो। मेरी दृष्टि में इसमें भी पारिवारिक आग्रह ही प्रमुख कारण रहा होगा। महावीर ने सदैव ही परिवार के वरिष्ठजनों को सम्मान दिया था। यही कारण रहा कि माता-पिता के जीवित रहते उन्होंने प्रव्रज्या नहीं ली। पुनः बड़े भाई के आग्रह से दो वर्ष और गृहस्थावस्था में रहे। सम्भवतः शीत ऋतु में दीक्षित होते समय भाई या परिजनों के आग्रह से उन्होंने वह एक वस्त्र लिया हो। सम्भव है कि विदाई की उस बेला में परिजनों के इस छोटे से आग्रह को ठुकराना उन्हें उचित न लगा हो। किन्तु उसके बाद उन्होंने कठोर साधना का निर्णय लेकर उस वस्त्र का उपयोग शरीरादि ढकने के लिये नहीं करूँगा, ऐसा निश्चय किया और दूसरे वर्ष के शीतकाल की समाप्ति पर उन्होंने उस वस्त्र का भी परित्याग कर दिया। आचारांग से इन सभी तथ्यों की पुष्टि होती है। उसके पश्चात् वे आजीवन अचेल ही रहे, इस तथ्य को स्वीकार करने में श्वेताम्बर, यापनीय और दिगम्बर तीनों में से किसी को भी कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। तीनों ही परम्पराएँ एक मत से यह स्वीकार करती हैं कि महावीर अचेल धर्म के ही प्रतिपालक और प्रवक्ता थे। महावीर का सचेल दीक्षित होना भी स्वैच्छिक नहीं था, वस्त्र उन्होंने लिया नहीं, अपितु उनके कन्धे पर डाल दिया गया था। यापनीय आचार्य अपराजितसूरि ने इस प्रवाद का उल्लेख किया है— वे कहते हैं कि यह तो उपसर्ग हुआ, सिद्धान्त नहीं। आचारांग में उनके वस्त्र-ग्रहण को 'अनुधर्म' कहा गया है, अर्थात् यह परम्परा का अनुपालन मात्र था। हो सकता है कि उन्होंने मात्र अपनी कुल-परम्परा अर्थात् पार्श्वापत्य-परम्परा का अनुसरण किया हो। श्वेताम्बर आचार्य उसकी व्याख्या में इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदूष्य वस्त्र ग्रहण करने की बात कहते हैं। यह मात्र परम्परागत विश्वास है, इस सम्बन्ध में कोई प्राचीन उल्लेख नहीं है। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का उपधानश्रुत मात्र वस्त्र-ग्रहण की बात कहता है। वह वस्त्र इन्द्र द्वारा प्रदत्त देवदुष्य था, ऐसा उल्लेख नहीं करता। मेरी दृष्टि में इस 'अनुधर्म' में 'अनु' शब्द का अर्थ वही है जो अणुव्रत में 'अणु' शब्द का है अर्थात् आंशिक न्यासग। वस्तुतः महावीर का लक्ष्य तो पूर्ण अचेलता का था, किन्तु प्रारम्भ में उन्होंने वस्त्र का आंशिक त्याग ही किया था। जब एक वर्ष की साधा से उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया कि वे अपनी काम-वासना पर पूर्ण विजय प्राप्त कर चुके हैं और दो शीतकालों के व्यतीत हो जाने से उन्हें यह अनुभव हो गया कि उनका शरीर उस शीत को सहने में पूर्ण समर्थ है, तो उन्होंने वस्त्र का पूर्ण त्याग कर दिया।[२४] ज्ञातव्य है कि महावीर ने दीक्षित होते समय मात्र सामायिक चारित्र ही लिया था, महाव्रतों का ग्रहण नहीं किया था। श्वेताम्बर आगमों का कथन है कि सभी तीर्थङ्कर एक देवदूष्य लेकर सामायिक चारित्र की प्रतिज्ञा से ही दीक्षित होते हैं।[२५] यह इसी तथ्य को पुष्ट करता है कि सामायिक चारित्र से दीक्षित होते समय एक वस्त्र ग्रहण करने की परम्परा रही होगी।

निष्कर्ष यह है कि महावीर की साधना का प्रारम्भ सचेलता से हुआ किन्तु उसकी परिनिष्पत्ति अचेलता में हुई। महावीर की दृष्टि में सचेलता अणुधर्म था और अचेलता मुख्य धर्म था। महावीर द्वारा वस्त्र-ग्रहण करने में उनके कुलधर्म अर्थात् पार्श्वापत्य परम्परा का प्रभाव हो सकता है किन्तु पूर्ण अचेलता का निर्णय या तो उनका स्वतःस्फूर्त था या फिर आजीवक परम्परा का प्रभाव। यह सत्य है कि महावीर पार्श्वापत्य परम्परा से प्रभावित रहे हैं और उन्होंने पार्श्वापत्य परम्परा के दार्शनिक सिद्धान्तों को ग्रहण भी किया है, किन्तु वैचारिक दृष्टि से पार्श्वापत्यों के निकट होते हुए भी आचार की दृष्टि से वे उनसे सन्तुष्ट नहीं थे। पार्श्वापत्यों के शिथिलाचार के उल्लेख और उसकी समालोचना जैनधर्म की सचेल और अचेल दोनों परम्पराओं के साहित्य में मिलती है।[२६] यही कारण था कि महावीर ने पार्श्वापत्यों की आचार-व्यवस्था में व्यापक सुधार किये। सम्भव है कि अचेलता के सम्बन्ध में वे आजीवकों से प्रभावित हुए हों। हर्मन जैकोबी आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस सन्दर्भ में महावीर पर आजीवकों के प्रभाव होने की सम्भावना को स्वीकार किया है।

हमारे कुछ दिगम्बर विद्वान् यह मत रखते हैं कि महावीर की अचेलता से प्रभावित होकर आजीवकों ने अचेलता (नग्नता) को स्वीकार किया, किन्तु यह उनकी भ्रान्ति है और ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य भी नहीं है। चाहे गोशालक महावीर के शिष्य के रूप में उनके साथ लगभग छः वर्ष तक रहा हो, किन्तु न तो गोशालक से प्रभावित होकर महावीर नग्न हुए और न महावीर की नग्नता का प्रभाव गोशालक के माध्यम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से आजीवकों पर ही पड़ा, क्योंकि गोशालक महावीर के पास उनके दूसरे नालन्दा चातुर्मास के मध्य पहुँचा था, जबकि महावीर उसके आठ मास पूर्व ही अचेल हो चुके थे। दूसरे यह कि आजीवकों की परम्परा गोशालक के पूर्व भी अस्तित्व में थी, गोशालक आजीवक परम्परा का प्रवर्तक नहीं था। न केवल भगवतीसूत्र में, अपितु पालित्रिपटक में भी गोशालक के पूर्व हुए आजीवक सम्प्रदाय के आचार्यों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। यदि आजीवक सम्प्रदाय महावीर के पूर्व अस्तित्व में था तो इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि उसकी अचेलता आदि कुछ आचार परम्पराओं ने महावीर को प्रभावित किया हो। अत: पार्श्वापत्य परम्परा के प्रभाव से महावीर के द्वारा वस्त्र का ग्रहण करना और आजीवक परम्परा के प्रभाव से वस्त्र का परित्याग करना मात्र काल्पनिक नहीं कहा जा सकता। उसके पीछे ऐतिहासिक एवं मनोवैज्ञानिक आधार है। महावीर का दर्शन पार्श्वापत्यों से और आचार आजीवकों से प्रभावित रहा है।

जहाँ तक महावीर की शिष्य-परम्परा का प्रश्न है यदि गोशालाक को महावीर का शिष्य माना जाए, तो वह अचेल रूप में ही महावीर के पास आया था और अचेल ही रहा। जहाँ तक गौतम आदि गणधरों और महावीर के अन्य प्रारम्भिक शिष्यों का प्रश्न है मुझे ऐसा लगता है कि उन्होंने जिनकल्प अर्थात् भगवान् महावीर की अचेलता को ही स्वीकार किया होगा, क्योंकि यदि गणधर गौतम सचेल होते या सचेल परम्परा के पोषक होते तो श्रावस्ती में हुई परिचर्चा में केशी उनसे सचेलता और अचेलता के सम्बन्ध में कोई प्रश्न ही नहीं करते। अत: श्रावस्ती में हुई इस परिचर्चा के पूर्व महावीर का मुनि-संघ पूर्णत: अचेल ही रहा होगा। उसमें वस्त्र का प्रवेश क्रमश: किन्हीं विशेष परिस्थितियों के आधार पर ही हुआ होगा। महावीर के संघ में सचेलता के प्रवेश के निम्नलिखित कारण सम्भावित हैं—

१. सर्वप्रथम जब महावीर के संघ में स्त्रियों को प्रव्रज्या प्रदान की गई तो उन्हें सवस्त्र ही दीक्षित किया गया क्योंकि लोक-लज्जा, मासिक-धर्म आदि शारीरिक कारणों से उन्हें नग्न रूप में दीक्षित किया जाना उचित नहीं था। अचेलता की सम्पोषक दिगम्बर परम्परा भी इस तथ्य को स्वीकार करती है कि महावीर के संघ में आर्यिकाएँ सवस्त्र ही होती थीं। जब एक बार आर्यिकाओं के संदर्भ में विशेष परिस्थिति में वस्त्र-ग्रहण की स्वीकृति दी गई तो इसने मुनि-संघ में भी आपवादिक परिस्थिति में जैसे भगन्दर आदि रोग होने पर वस्त्र-ग्रहण का द्वार उद्घाटित कर दिया। सामान्यतया तो वस्त्र परिग्रह ही था किन्तु स्त्रियों के लिये और अपवादमार्ग में मुनियों के लिये उसे संयमोपकरण मान लिया गया।

१. पुन: जब महावीर के संघ में युवा दीक्षित होने लगे होंगे तो महावीर को उन्हें भी सवस्त्र रहने का अनुमति देनी पड़ी होगी, क्योंकि उनके जीवन में लिंगोत्थान और वीर्यपात की घटनाएँ सम्भव थीं। ये ऐसी सामान्य मनोदेहिक घटनाएँ हैं जिनसे युवा-मुनि का पूर्णत: बच पाना असम्भव है। मनोदैहिक दृष्टि से युवावस्था में चाहे कामवासना पर नियन्त्रण रखा जा सकता हो किन्तु उक्त स्थितियों का पूर्ण निर्मूलन सम्भव नहीं होता है। निर्ग्रन्थ संघ में युवा मुनियों में ये घटनाएँ घटित होती थीं, ऐसे आगमिक उल्लेख है। यदि ये घटनाएँ अरण्य में घटित हों, तो उतनी चिन्तनीय नहीं थीं किन्तु भिक्षा, प्रवचन आदि के समय स्त्रियों की उपस्थिति में इन घटनाओं का घटित होना न केवल उस मुनि की चारित्रिक प्रतिष्ठा के लिये घातक था, बल्कि सम्पूर्ण निर्ग्रन्थ मुनि-संघ की प्रतिष्ठा पर एक प्रश्न-चिह्न खड़ा करता था। अत: यह आवश्यक समझा गया कि जब तक वासना पूर्णत: मर न जाय, तब तक ऐसे युवा मुनि के लिये नग्न रहने या जिनकल्प धारण करने की अनुमति न दी जाय। श्वेताम्बर मान्य आगमिक व्याख्याओं में तो यह स्पष्ट निर्देश है कि ३० वर्ष की वय के पूर्व जिनकल्प धारण नहीं किया जा सकता है। सत्य तो यह है कि निर्ग्रन्थ संघ में सचेल और अचेल ऐसे दो वर्ग स्थापित हो जाने पर यह व्यवस्था दी गई कि युवा मुनियों को छेदोपस्थापनीय चारित्र न दिया जाकर मात्र सामायिक चारित्र दिया जाय, क्योंकि जब तक व्यक्ति सम्पूर्ण परिग्रह त्याग करके अचेल नहीं हो जाता, तब तक उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र नहीं दिया जा सकता है। ज्ञातव्य है कि महावीर ने ही सर्वप्रथम सामायिक चारित्र एवं छेदोपस्थापनीय चारित्र (महाव्रतारोपण) ऐसे दो प्रकार के चारित्रों की व्यवस्था की जो आज भी श्वेताम्बर परम्परा में छोटी दीक्षा और बड़ी दीक्षा के नाम से प्रचलित है। युवा मुनियों के लिये 'क्षुल्लक' शब्द का प्रयोग किया गया और उसके आचार-व्यवहार के हेतु कुछ विशिष्ट नियम बनाये गये, जो आज भी उत्तराध्ययन और दशवैकालिक के क्षुल्लकाध्ययनों में उपस्थित हैं। महावीर ने छेदोपस्थापनीय चारित्र की व्यवस्था उन प्रौढ़ मुनियों के लिये की, जो अपनी वासनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण प्रप्त कर चुके थे और अचेल रहने में समर्थ थे। 'छेदोपस्थापना' शब्द का तात्पर्य भी यही है कि पूर्व दीक्षा पर्याय को समाप्त (छेद) कर नवीन दीक्षा (उपस्थापन) देना। आज भी श्वेताम्बर परम्परा में छेदोपस्थापना के समय ही महाव्रतारोपण कराया जाता है और तभी दीक्षित व्यक्ति की संघ में क्रम-स्थिति अर्थात् ज्येष्ठता/कनिष्ठता निर्धारित होती है और उसे संघ का सदस्य माना जाता है। सामायिक चारित्र ग्रहण करने वाला मुनि संघ में रहते हुए भी उसका सदस्य नहीं माना जाता है। इस चर्चा से यह फलित होता है कि निर्ग्रन्थ मुनि-संघ में सचेल (क्षुल्लक) और अचेल (मुनि) ऐसे दो प्रकार के वर्गों का निर्धारण महावीर ने या तो अपने जीवन-काल में ही कर दिया होगा या उनके परिनिर्वाण के कुछ समय पश्चात् कर दिया गया होगा। आज भी दिगम्बर परम्परा में साधक की क्षुल्लक (दो वस्त्रधारी), ऐलक (एक वस्त्रधारी) और मुनि (अचेल) ऐसी तीन व्यवस्थाएँ हैं। अत: प्राचीनकाल में भी ऐसी व्यवस्था रही होगी, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है। ज्ञातव्य है कि इन सभी सन्दर्भों में वस्त्र-ग्रहण का कारण लोक-लज्जा या लोकापवाद और शारीरिक स्थिति ही था।

३. महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में वस्त्र के प्रवेश का तीसरा कारण सम्पूर्ण उत्तर भारत, हिमालय के तराई क्षेत्र तथा राजस्थान में शीत का तीव्र प्रकोप होना था। महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में स्थित वे मुनि जो या तो वृद्धावस्था में ही दीक्षित हो रहे थे या वृद्धावस्था की ओर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अग्रसर हो रहे थे, उनका शरीर इस भयंकर शीत के प्रकोप का सामना करने में कठिनाई का अनुभव कर रहा था। ऐसे सभी मुनियों के द्वारा यह भी सम्भव नहीं था कि वे संथारा ग्रहण कर उन शीतलहरों का सामना करते हुए अपने प्राणोत्सर्ग कर दें। ऐसे मुनियों के लिये अपवाद मार्ग के रूप में शीत-निवारण के लिये एक ऊनी वस्त्र रखने की अनुमति दी गई। ये मुनि रहते तो अचेल ही थे, किन्तु रात्रि में शीत-निवारणार्थ उस ऊनी-वस्त्र (कम्बल) का उपयोग कर लेते थे। यह व्यवस्था स्थविर या वृद्ध मुनियों के लिये थी और इसलिये इसे 'स्थविरकल्प' का नाम दिया गया। मथुरा से प्राप्त ईस्वी सन् प्रथम-द्वितीय शती की जिन-प्रतिमाओं की पाद-पीठ पर या फलकों पर जो मुनि प्रतिमाएँ अंकित हैं वे नग्न होकर भी कम्बल और मुखवस्त्रिका लिये हुए हैं। मेरी दृष्टि में यह व्यवस्था भी आपवादिक ही था।

हम देखते हैं कि महावीर का जो मुनि-संघ दक्षिण भारत या दक्षिण मध्य-भारत में रहा उसमें अचेलता सुरक्षित रह सकी, किन्तु जो मुनि-संघ उत्तर एवं पश्चिमोत्तर भारत में रहा उसमें शीत-प्रकोप की तीव्रता की देश-कालगत परिस्थितियों के कारण वस्त्र का प्रवेश हो गया। आज भी हम देखते हैं कि जहाँ भारत के दक्षिण और दक्षिण-मध्य क्षेत्र में दिगम्बर परम्परा का बाहुल्य है, वहाँ पश्चिमोत्तर भारत में श्वेताम्बर परम्परा का बाहुल्य है। वस्तुत: इसका कारण जलवायु ही है। दक्षिण में जहाँ शीतकाल में आज भी तापमान २५-३० डिग्री सेल्सियस से नीचे नहीं जाता, वहाँ नग्न रहना कठिन नहीं है किन्तु हिमालय के तराई क्षेत्र, पश्चिमोत्तर भारत एवं राजस्थान जहाँ तापमान शून्य डिग्री से भी नीचे चला जाता है, वहाँ शीतकाल में अचेल रहना कठिन है। पुन: एक युवा साधक को शीत सहन करने में उतनी कठिनाई नहीं होती जितनी कि वृद्ध तपस्वी साधक को। अत: जिन क्षेत्रों में शीत की अधिकता थी उन क्षेत्रों में वस्त्र का प्रवेश स्वाभाविक ही था। आचारांग में हमें ऐसे मुनियों के उल्लेख उपलब्ध हैं जो शीतकाल में सर्दी से थर-थर काँपते थे। जो लोग उनके आचार (अर्थात् आग जलाकर शीत-निवारण करने के निषेध) से परिचित नहीं थे, उन्हें यह शंका भी होती थी कि कहीं उनका शरीर कामावेग में तो नहीं काँप रहा है। यह ज्ञात होने पर कि इनका शरीर सर्दी से काँप रहा है, कभी-कभी वे शरीर को तपाने के लिये आग जला देने को कहते थे, जिसका उन मुनियों को निषेध करना होता था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में वस्त्र-प्रवेश के लिये उत्तर भारत की भयंकर सर्दी भी एक मुख्य कारण रही है।

४. महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में वस्त्र के प्रवेश का चौथा कारण पार्श्व की परम्परा के मुनियों का महावीर की परम्परा में सम्मिलित होना भी है। यह स्पष्ट है कि पार्श्व की परम्परा के मुनि सचेल होते थे। वे अधोवस्त्र और उत्तरीय दोनों ही धारण करते थे। हमें सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, भगवती, राजप्रश्नीय आदि में न केवल पार्श्व की परम्परा के मुनियों के उल्लेख मिलते हैं अपितु उनके द्वारा महावीर के संघ में पुन: दीक्षित होने के सन्दर्भ भी मिलते हैं। इन सन्दर्भों का सूक्ष्मता से विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि पार्श्व की परम्परा के कुछ मुनियों ने तो महावीर की परम्परा में सम्मिलित होते समय अचेलकत्व ग्रहण किया, किन्तु कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने अचेलता को ग्रहण नहीं किया। सम्भव है कुछ पार्श्वापत्यों को सचेल रहने की अनुमति देकर सामायिक चारित्र के साथ महावीर के संघ में सम्मिलित किया गया होगा। इस प्रकार महावीर के जीवनकाल में या उसके कुछ पश्चात् निर्ग्रन्थ संघ में सचेल-अचेल दोनों प्रकार की एक मिली-जुली व्यवस्था स्वीकार कर ली गयी थी और पार्श्व की परम्परा में प्रचलित सचेलता को भी मान्यता प्रदान कर दी गयी।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में प्रारम्भ में तो मुनि की अचेलता पर ही बल दिया गया था, किन्तु कालान्तर में लोक-लज्जा और शीत-परीषह से बचने के लिये आपवादिक रूप में वस्त्र-ग्रहण को मान्यता प्रदान कर दी गयी।

श्वेताम्बर मान्य आगमों और दिगम्बरों द्वारा मान्य यापनीय ग्रन्थों में आपवादिक स्थितियों का भी उल्लेख है, जिनमें मुनि वस्त्र-ग्रहण कर सकता था।

श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य स्थानांगसूत्र (३/३/३४७) में वस्त्र-ग्रहण के निम्नलिखित तीन कारणों का उल्लेख उपलब्ध होता है—

१. लज्जा के निवारण के लिये (लिंगोत्थान होने पर लज्जित न होना पड़े, इस हेतु)।

२. जुगुप्सा (घृणा) के निवारण के लिये (लिंग या अण्डकोष विद्रूप होने पर लोग घृणा न करें, इस हेतु)।

३. परीषह (शीत-परीषह) के निवारण के लिये।

स्थानांगसूत्र में वर्णित उपर्युक्त तीन कारणों में प्रथम दो का समावेश लोक-लज्जा में हो जाता है, क्योंकि जुगुप्सा का निवारण भी एक प्रकार से लोक-लज्जा का निवारण ही है। दोनों में अन्तर यह है कि लज्जा का भाव स्वत: में निहित होता है और घृणा दूसरों के द्वारा की जाती है, किन्तु दोनों का उद्देश्य लोकापवाद से बचना है।

इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में मान्य, किन्तु मूलत: यापनीय ग्रन्थ भगवती-आराधना (७६) की टीका में निम्नलिखित तीन आपवादिक स्थितियों में वस्त्र-ग्रहण की स्वीकृति प्रदान की गयी है—

१. जिसका लिंग (पुरुष-चिह्न) एवं अण्डकोष विद्रूप हो।

२. जो महान् सम्पत्तिशाली अथवा लज्जालु हो।

३. जिसके स्वजन मिथ्यादृष्टि हों।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रारम्भ में निर्ग्रन्थ संघ में मुनि के लिये वस्त्र-ग्रहण एक आपवादिक व्यवस्था ही थी। उत्सर्ग या श्रेष्ठ मार्ग तो अचेलता को ही माना गया था। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आचारांग, स्थानांग और उत्तराध्ययन में न केवल मुनि की अचेलता के प्रतिपादक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं अपितु अचेलता की प्रशंसा भी उपलब्ध होती है। उनमें भी वस्त्र-ग्रहण की अनुमति मात्र लोक-लज्जा के निवारण और शीत-निवारण के लिये ही है। आचारांग में चार प्रकार के मुनियों के उल्लेख हैं—१. अचेल, २. एक वस्त्रधारी, ३. दो वस्त्रधारी, ४. तीन वस्त्रधारी।

१. इनमें अचेल तो सर्वथा नग्न रहते थे। ये जिनकल्पी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहलाते थे।

२. एक वस्त्रधारी भी दो प्रकार के होते थे—

(अ) कुछ एक वस्त्रधारी रहते तो अचेल ही थे, किन्तु अपने पास एक ऊनी वस्त्र रखते थे, जिसका उपयोग नगरादि में प्रवेश के समय लोक-लज्जा के निवारण के लिये और सर्दियों की रात्रियों में शीत-निवारण के लिये करते थे। ये स्थविरकल्पी कहलाते थे।

(ब) कुछ एक वस्त्रधारी मात्र अधोवस्त्र धारण करते थे, जैसे वर्तमान में दिगम्बर परम्परा के ऐलक धारण करते हैं। ऐलक एक-चेलक (वस्त्रधारी) का ही अपभ्रंश रूप है। इसे आगम में एकशाटक कहा गया है।

३. दो वस्त्रधारी, जिन्हें सान्तरोत्तर भी कहा गया है, एक अधोवस्त्र व एक उत्तरीयवस्त्र रखते थे, जैसे वर्तमान में क्षुल्लक रखते हैं— अधोवस्त्र लोक-लज्जा हेतु और उत्तरीय शीत-निवारण हेतु।

४. तीन वस्त्रधारी साधु अधोवस्त्र और उत्तरीय के साथ-साथ शीत-निवारणार्थ एक ऊनी कम्बल भी रखते होंगे। यह व्यवस्था आज के श्वेताम्बर मूर्तिपूजक साधुओं में है।

आचारांग स्पष्ट रूप से यह उल्लेख करता है कि वस्त्रधारी मुनि वस्त्र के जीर्ण होने पर एवं ग्रीष्मकाल के आगमन पर जीर्ण वस्त्रों का त्याग करते हुए अचेलता की दिशा में आगे बढ़े। तीन वस्त्रधारी क्रमशः अपने परिग्रह को कम करते हुए सान्तरोत्तर अथवा एक शाटक अथवा अचेल हो गए। हम देखते हैं कि आचारांग में वर्णित वस्त्र-सम्बन्धी यह व्यवस्था अचेलता का अति-आग्रह रखने वाली दिगम्बर परम्परा में भी मुनि, ऐलक और क्षुल्लक के रूप में आज भी प्रचलित है। उसका क्षुल्लक आचारांग का सान्तरोत्तर है, ऐलक एकशाटक तथा मुनि अचेल है।

श्वेताम्बर परम्परा में परवर्ती काल में भी जो वस्त्र-पात्र का विकास हुआ और वस्त्र-ग्रहण को अपरिहार्य माना गया उसके पीछे मूल में परिग्रह या संचय वृत्ति न होकर देशकालगत परिस्थितियाँ, संघीय जीवन की आवश्यकताएँ एवं संयम अर्थात् अहिंसा की परिपालना ही प्रमुख थी। निर्ग्रन्थ संघ में जब अपरिग्रह महाव्रत के स्थान पर अहिंसा के महाव्रत की परिपालना पर अधिक बल दिया गया तो प्रतिलेखन या पिच्छी से लेकर क्रमशः अनेक उपकरण बढ़ गये। श्वेताम्बर परम्परा के मान्य कुछ परवर्ती आगमों में मुनि के जिन चौदह उपकरणों का उल्लेख मिलता है उनमें अधिकांश पात्र-पोछन, पटल आदि के कारण होने वाली जीव हिंसा से बचने के लिये ही है। ओघनिर्युक्ति[२७] (६९१) में स्पष्ट उल्लेख है कि जिनेन्द्र देव ने षट्काय जीवों के रक्षण के लिये ही पात्र-ग्रहण की अनुज्ञा दी है।

शारीरिक सुख-सुविधा और प्रदर्शन की दृष्टि से जो वस्त्रादि उपकरणों का विकास हुआ है वह बहुत ही परवर्ती घटना है और प्राचीन स्तर के मान्य आगमों से समर्थित नहीं है और मुनि-आचार का विकृत रूप ही है और यह विकार यति परम्परा के रूप में श्वेताम्बरों और भट्टारक-परम्परा के रूप में दिगम्बरों, दोनों में आया है।

किन्तु जो लोग वस्त्र के सम्बन्ध में आग्रहपूर्ण दृष्टिकोण रखते हैं उन्हें यह समझ लेना चाहिये कि वस्त्र का ग्रहण एक मनोदैहिक एवं सामाजिक आवश्यकता है और उससे श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएँ प्रभावित हुई हैं। दिगम्बर परम्परा में ऐलक और क्षुल्लक की व्यवस्था तो इस आवश्यकता की सूचक है ही, किन्तु इसके साथ ही साथ उनमें जो सवस्त्र भट्टारकों की परम्परा का विकास हुआ, उसके पीछे भी उपरोक्त मनोदैहिक कारण और लौकिक परिस्थितियाँ ही मुख्य रहीं। क्या कारण था कि अचेलता की समर्थक इस परम्परा में भी लगभग १००० वर्षों तक नग्न मुनियों का अभाव रहा। आज दिगम्बर परम्परा में शान्तिसागरजी से जो नग्न मुनियों की परम्परा पुनः जीवित हुई है, उसका इतिहास तो १०० वर्ष से अधिक का नहीं है। लगभग ग्यारहवीं शती से उन्नीसवीं शती तक दिगम्बर मुनियों का प्रायः अभाव ही रहा है।

आज इन दोनों परम्पराओं में सचेलता और अचेलता के प्रश्न पर जो इतना विवाद खड़ा कर दिया गया है, वह दोनों की आगमिक व्यवस्थाओं और जीवित परम्पराओं के सन्दर्भ में ईमानदारी से विचार करने पर नगण्य ही रह जाता है। हमारा दुर्भाग्य यह है कि हम अपने मताग्रहों से न तो आगमिक व्यवस्थाओं को देखने का प्रयत्न करते है और न उन कारणों का विचार करते हैं, जिनसे किसी आचार-व्यवस्था में परिवर्तन होता है। दुर्भाग्य है कि जहाँ श्वेताम्बर परम्परा ने जिनकल्प के विच्छेद के नाम पर उस अचेलता का अपलाप किया, जो उसके पूर्वज आचार्यों के द्वारा लगभग ईसा की दूसरी शती तक आचरित रही और जिसके सन्दर्भ उनके आगमों में आज भी हैं। वहीं दूसरी ओर दिगम्बर परम्परा में सचेल मुनि ही नहीं होता है, यह कहकर न केवल महावीर की मूल-भूत अनेकान्तिक दृष्टि का उल्लंघन किया गया, अपितु अपने ही आगमों और प्रचलित व्यवस्थाओं को नकार दिया गया। हम पूछते हैं कि क्या ऐलक और क्षुल्लक गृहस्थ हैं और यदि ऐसा माना जाय तो इनके मूल अर्थ का ही अपलाप होगा।

यदि हम निष्पक्ष दृष्टि से देखें तो निर्ग्रन्थ संघ में प्राचीनकाल से ही क्षुल्लकों (युवा-मुनि) और स्थविरों (वृद्ध-मुनियों) के लिये वस्त्र-ग्रहण की परम्परा मान्य रही है। क्षुल्लक लोक-लज्जा के लिये और स्थविर (वृद्ध) दैहिक आवश्यकता के लिये वस्त्र-ग्रहण करता है। 'क्षुल्लक मुनि नहीं हैं' यह उद्घोष केवल एकान्तता का सूचक है। 'क्षुल्लक' शब्द अपने आप में इस बात का सूचक है कि वह प्रारम्भिक स्तर का मुनि है, गृहस्थ नहीं, क्योंकि 'क्षुल्लक' का अर्थ छोटा होता है। वह छोटा मुनि ही हो सकता है, गृहस्थ नहीं। प्राचीन आगमों में वस्त्रधारी युवा मुनि के लिये ही 'क्षुल्लक' शब्द का प्रयोग हुआ है। आचारांग तथा अन्य पुरातात्त्विक साक्ष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्ग्रन्थ संघ में या तो महावीर के जीवनकाल में या निर्वाण के कुछ ही समय पश्चात् सचेल-अचेल मुनियों की एक मिली-जुली व्यवस्था हो गई थी। यह भी सम्भव है कि ऐसी दोहरी व्यवस्था मान्य करने पर परस्पर आलोचना के स्वर भी मुखरित हुए होंगे। यही कारण है कि आचारांग में स्पष्ट रूप से यह निर्देश दिया गया कि अचेल मुनि, एकशाटक, सान्तरोत्तर अथवा तीन वस्त्रधारी मुनि परस्पर एक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे की निन्दा न करें। ज्ञातव्य है कि संघ-भेद का कारण यह मिली-जुली व्यवस्था नहीं थी, अपितु इसमें अपनी-अपनी श्रेष्ठता का मिथ्या अहंकार ही आगे चलकर संघ-भेद का कारण बना है। जब सचेलकों ने अचेलकों की साधना सम्बन्धी विशिष्टता को अस्वीकार किया और अचेलकों ने सचेलक को मुनि मानने से इन्कार किया तो संघ-भेद होना स्वाभाविक ही था।

ऐतिहासिक सत्य तो यह है कि महावीर के निर्वाण के पश्चात् जो निर्ग्रन्थ मुनि दक्षिण बिहार, उड़ीसा और आन्ध्र प्रदेश के रास्ते से तमिलनाडु और कर्नाटक में पहुँचे, वे वहाँ की जलवायुगत परिस्थितियों के कारण अपनी अचेलता को यथावत कायम रख सके, क्योंकि वहाँ सर्दी पड़ती ही नहीं है। यद्यपि उनमें भी क्षुल्लक और ऐलक दीक्षाएँ होती रही होंगी, किन्तु अचेलक मुनि को सर्वोपरि मानने के कारण उनमें कोई विवाद नहीं हआ। दक्षिण भारत में अचेल रहना सम्भव था, इसलिये उसके प्रति आदरभाव बना रहा। फिर भी लगभग पाँचवीं-छठीं शती के पश्चात् वहाँ भी हिन्दू-मठाधीशों के प्रभाव से सवस्त्र भट्टारक परम्परा का क्रमिक विकास हुआ और धीरे-धीरे दसवीं-ग्यारहवीं शती से व्यवहार में अचेलता समाप्त हो गयी। केवल अचेलता के प्रति सैद्धान्तिक आदर भाव बना रहा। आज वहाँ जो दिगम्बर हैं, वे इस कारण दिगम्बर नहीं हैं कि वे नग्न रहते हैं अपितु इस कारण हैं कि अचेलता/दिगम्बरत्व के प्रति उनमें आदर भाव है।

महावीर का जो निर्ग्रन्थ संघ बिहार से पश्चिमोत्तर भारत की ओर आगे बढ़ा, उसमें जलवायु तथा मुनियों की बढ़ती संख्या के कारण वस्त्र-पात्र का विकास हुआ। प्रथम शक, हूण आदि विदेशी संस्कृति के प्रभाव से तथा दूसरे जलवायु के कारण से इस क्षेत्र में नग्नता को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा, जबकि दक्षिण भारत में नग्नता के प्रति हेय भाव नहीं था। लोक-लज्जा और शीत-निवारण के लिये एक वस्त्र रखा जाने लगा। प्रारम्भ में तो उत्तर भारत का यह निर्ग्रन्थ संघ रहता तो अचेल ही था, किन्तु अपने पास एक वस्त्र रखता था जिसका उपयोग नगरादि में प्रवेश करते समय लोक-लज्जा के निवारण के लिये और शीत ऋतु में सर्दी सहन न होने की स्थिति में ओढ़ने के लिये किया करता था। मथुरा से अनेक ऐसे अचेल जैन मुनियों की प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं जिनके हाथ में यह वस्त्र (कम्बल) इस प्रकार प्रदर्शित है कि उनकी नग्नता छिप जाती है। उत्तर भारत में निर्ग्रन्थों, मुनियों की इस स्थिति को ही ध्यान में रखकर सम्भवत: पालित्रिपिटक में निर्ग्रन्थों को एकशाटक कहा गया है। हमें प्राचीन अर्थात् ईसा की पहली-दूसरी शती के जो भी साहित्यिक और पुरातात्त्विक प्रमाण मिलते हैं उनसे यही सिद्ध होता है कि उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में शीत और लोक-लज्जा के लिये वस्त्र-ग्रहण किया जाता था। श्वेताम्बर मान्य आगमिक व्याख्याओं से जो सूचनाएँ उपलब्ध होती हैं, उनसे भी यह ज्ञात होता है कि उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ में वस्त्र का प्रवेश होते हुए भी महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग छ: सौ वर्षों तक अचेलकत्व उत्सर्ग या श्रेष्ठमार्ग के रूप में मान्य रहा है।

श्वेताम्बर आगमिक व्याख्या साहित्य से ही हमें यह भी सूचना मिलती है कि उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ के अनेक आचार्यों ने समय-समय पर वस्त्र-ग्रहण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के विरोध में अपने स्वर मुखरित किये थे। आर्य भद्रबाहु के पश्चात् भी उत्तर-भारत के निर्ग्रन्थ संघ में आर्य महागिरि, आर्य शिवभूति, आर्य रक्षित आदि ने वस्त्रवाद का विरोध किया था। ज्ञातव्य है कि इन सभी को श्वेताम्बर परम्परा अपने पूर्वाचार्यों के रूप में ही स्वीकार करती है। मात्र यही नहीं, इनके द्वारा वस्त्रवाद के विरोध का उल्लेख भी करती है। इस सबसे यही फलित होता है कि उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ परम्परा में आगे चलकर वस्त्र को जो अपरिहार्य मान लिया गया और वस्त्रों की संख्या में जो वृद्धि हुई वह एक परवर्ती घटना है और वही संघ-भेद का मुख्य कारण भी है।

जैन साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों के अतिरिक्त निर्ग्रन्थ मुनियों के द्वारा वस्त्र-ग्रहण करने के सम्बन्ध में यथार्थ स्थिति का ज्ञान जैनेतर साक्ष्यों से भी उपलब्ध होता है, जो अति महत्त्वपूर्ण है। इनमें सबसे प्राचीन सन्दर्भ पालित्रिपिटक का है। पालित्रिपिटक में प्रमुख रूप से दो ऐसे सन्दर्भ हैं जहाँ निर्ग्रन्थ की वस्त्र-सम्बन्धी स्थिति का संकेत मिलता है। प्रथम सन्दर्भ तो निर्ग्रन्थ का विवरण देते हुए स्पष्टतया यह कहता है कि निर्ग्रन्थ एकशाटक थे[२८], इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध के समय या कम से कम पालित्रिपिटक के रचनाकाल अर्थात् ई० पू० तृतीय-चतुर्थ शती में निर्ग्रन्थों में एक वस्त्र का प्रयोग होता था, अन्यथा उन्हें एकशाटक कभी नहीं कहा जाता। जहाँ आजीवक सर्वथा नग्न रहते थे, वहाँ निर्ग्रन्थ एक वस्त्र रखते थे। इससे यही सूचित होता है कि वस्त्र ग्रहण की परम्परा अति प्राचीन है। पुन: निर्ग्रन्थ के एकशाटक होने का यह उल्लेख पालित्रिपिटक में ज्ञातृपुत्र महावीर की चर्चा के प्रसंग में हुआ है। अत: सामान्य रूप से इसे पार्श्व की परम्परा कही देना भी ठीक नहीं होगा। फिर भी यदि इसमें चातुर्याम की अवधारणा के उल्लेख के आधार पर इसे पार्श्व की परम्परा से सम्बन्धित माने तो भी इतना अवश्य है कि महावीर के संघ में पार्श्वापत्यों के प्रवेश के साथ-साथ वस्त्र का प्रवेश हो गया था। चाहे निर्ग्रन्थ परम्परा पार्श्व की रही हो या महावीर की। यह निर्विवाद है कि निर्ग्रन्थ संघ में प्राचीनकाल से ही वस्त्र के सम्बन्ध में वैकल्पिक व्यवस्था मान्य रही है, फिर चाहे वह अपवाद मार्ग के रूप में हो या स्थविर कल्प के रूप में ही क्यों न हो।

पालित्रिपिटक[२९] के एक अन्य प्रसंग में महावीर के स्वर्गवास के पश्चात् निर्ग्रन्थ संघ के पारस्परिक कलह और उसके दो भागों में विभाजित होने का निम्न उल्लेख मिलता है— वे एक-दूसरे की आलोचना करते हुए कहते थे, "तू इस धर्म-विनय को नहीं जानता। मैं इस धर्म-विनय को जानता हूँ। तू क्या इस धर्म-विनय को जानेगा? आदि-आदि।" इस विवाद के सम्बन्ध में विद्वानों में दो प्रकार के मत हैं। मुनि कल्याणविजय जी आदि कुछ विद्वानों के अनुसार यह विवरण महावीर के जीवन-काल में ही उनके और गोशालक के बीच हुए उस विवाद का सूचक है, जिसके कारण महावीर के निर्वाण का प्रवाद भी प्रचलित हो गया था। भगवतीसूत्र[३०] में हमें इस विवाद का विस्तृत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेख मिलता है। इसमें वस्त्रादि के सन्दर्भ में कोई चर्चा नहीं है। मात्र महावीर पर यह आरोप है कि वे पहले अकेले वन में निवास करते थे, अब संघ सहित नगर या गाँव के उपान्त में निवास करते हैं और तीर्थङ्कर न होकर भी अपने को तीर्थङ्कर कहते हैं। किन्तु इस विवाद के प्रसंग में, जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात है, वह यह कि पालित्रिपिटक में इसका सम्बन्ध धर्म-विनय से जोड़ा गया है और औदात्त अर्थात् श्रेष्ठ-वस्त्र धारण करने वाले निर्ग्रन्थ श्रावकों को इस विवाद से उदासीन बताया गया है।[३१] इससे इतना तो अवश्य प्रतिफलित होता है कि विवाद का मूलभूत विषय धर्म-विनय अर्थात् श्रमणाचार से ही सम्बन्धित रहा होगा। अत: उसका एक पक्ष वस्त्र-पात्र रखने या न रखने से सम्बन्धित हो सकता है।

इस समस्त चर्चा से यह प्रतिफलित होता है कि सचेलता और अचेलता की समस्या निर्ग्रन्थ संघ की एक पुरानी समस्या है और इसका आविर्भाव पार्श्व और महावीर के निर्ग्रन्थ संघ के सम्मेलन के साथ हो गया था। साथ ही यह भी सत्य है कि जहाँ एक ओर आजीवकों की अचेलता ने महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में स्थान पाया, वहीं पार्श्व की सचेल परम्परा ने भी उसे प्रभावित किया। परिणामस्वरूप वस्त्र के सम्बन्ध में महावीर के निर्ग्रन्थ संघ में एक मिली-जुली व्यवस्था स्वीकार की गई। उत्सर्ग मार्ग में अचेलता को स्वीकार करते हुए भी आपवादिक स्थितियों में वस्त्र-ग्रहण की अनुमति दी गयी। पालित्रिपिटक में आजीवकों को सर्वथा अचेलक और निर्ग्रन्थ को एकशाटक कहा गया है और इसी आधार पर वे आजीवकों और निर्ग्रन्थ में अन्तर भी करते हैं। आजीवकों के लिये 'अचेलक' शब्द का भी प्रयोग करते हैं। धम्मपद की टीका में बुद्धघोष कहते हैं कि कुछ भिक्षु अचेलकों की अपेक्षा निर्ग्रन्थ को वरेण्य समझते हैं क्योंकि अचेलक तो सर्वथा नग्न रहते है, जबकि निर्ग्रन्थ प्रतिच्छादन रखते हैं।[३२] बुद्धघोष के इस उल्लेख से भी यह प्रतिफलित होता है कि निर्ग्रन्थ नगर-प्रवेश आदि के समय जो एक वस्त्र (प्रतिच्छादन) रखते थे, उससे अपनी नग्नता छिपा लेते थे। इस प्रकार मूल त्रिपिटक में निर्ग्रन्थ को एकशाटक कहना, बुद्धघोष द्वारा उनके द्वारा प्रतिच्छादन रखने का उल्लेख करना और मथुरा से प्राप्त निर्ग्रन्थ मुनियों के अंकन में उन्हें एक वस्त्र से अपनी नग्नता छिपाते हुए दिखाना—ये सब साक्ष्य यही सूचित करते हैं कि उत्तर भारत में निर्ग्रन्थ संघ में कम से कम ई० पू० चौथी-तीसरी शताब्दी में एक वस्त्र रखा जाता था और यह प्रवृत्ति बुद्धघोष के काल तक अर्थात् ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी तक भी प्रचलित थी।

वस्त्र के सम्बन्ध में यापनीय दृष्टिकोण

यापनीय-परम्परा का एक प्राचीन ग्रन्थ भगवतीआराधना है। इसमें दो प्रकार के लिंग बताये गये हैं—१. उत्सर्गलिंग (अचेल) और २. अपवादलिंग (सचेल)। आराधनाकार स्पष्ट रूप से कहता है कि संलेखना ग्रहण करते समय उत्सर्गलिंगधारी अचेल श्रमण का तो उत्सर्गलिंग अचेलता ही होता है, अपवादलिंगधारी सचेल श्रमण का भी यदि लिंग प्रशस्त है तो उसे भी उत्सर्गलिंग अर्थात् अचेलकत्व ग्रहण करना चाहिये। टीकाकार अपराजित ने यहाँ उत्सर्गलिंग का अर्थ स्पष्ट करते हुए सकल परिग्रहत्यागरूप अचेलकत्व के ग्रहण को ही उत्सर्गलिंग कहा है। इसी प्रकार अपवाद की व्याख्या करते हुए कारणसहित परिग्रह को अपवादलिंग कहा है। अगली गाथा की टीका में उन्होंने स्पष्ट रूप से सचेललिंग को अपवादलिंग कहा है। इसके अतिरिक्त आराधनाकार शिवार्य एवं टीकाकार अपराजित ने यह भी स्पष्ट किया है कि जिनका पुरुष-चिह्न अप्रशस्त हो अर्थात् लिंग चर्मरहित हो, अतिदीर्घ हो, अण्डकोष अतिस्थूल हो तथा लिंग बार-बार उत्तेजित होता हो तो उन्हें सामान्य दशा में तो अपवादलिंग अर्थात् सचेललिंग ही देना होता है, किन्तु ऐसे व्यक्तियों को भी संलेखना के समय एकान्त में उत्सर्गलिंग अर्थात् अचेलकत्व प्रदान किया जा सकता है। किन्तु उसमें सभी अपवादलिंगधारियों को संलेखना के समय अचेललिंग ग्रहण करना आवश्यक नहीं माना गया है। आगे वे स्पष्ट लिखते हैं कि जिनके स्वजन महान् सम्पत्तिशाली, लज्जाशील और मिथ्यादृष्टि अर्थात् जैन धर्म को नहीं मानने वाले हों, ऐसे व्यक्तियों के लिये न केवल सामान्य दशा में अपितु संलेखना के समय भी अपवादलिंग अर्थात् सचेलता ही उपयुक्त है।

इस समग्र चर्चा से स्पष्टत: यह फलित होता है कि यापनीय सम्प्रदाय उन व्यक्तियों को, जो समृद्धिशाली परिवारों से हैं, जो लज्जालु हैं तथा जिनके परिजन मिथ्यादृष्टि हैं अथवा जिनके पुरुषचिह्न अर्थात् लिंग चर्मरहित है, अतिदीर्घ है, अण्डकोष स्थूल हैं एवं लिंग बार-बार उत्तेजित होता है, को आपवादिक लिंग धारण करने का निर्देश करता है। इस प्रकार वह यह मानता है कि उपर्युक्त विशिष्ट परिस्थितियों में व्यक्ति सचेल लिंग धारण कर सकता है। अत: हम कह सकते हैं कि यापनीय परम्परा यद्यपि अचेलकत्व पर बल देती थी और यह भी मानती थी कि समर्थ साधक को अचेललिंग ही धारण करना चाहिए किन्तु उसके साथ-साथ वह यह मानती थी कि आपवादिक स्थितियों में सचेल लिंग भी धारण किया जा सकता है। यहाँ उसका श्वेताम्बर परम्परा से स्पष्ट भेद यह है कि जहाँ श्वेताम्बर परम्परा जिनकल्प का विच्छेद बताकर अचेललिंग का निषेध कर रही थी, वहाँ यापनीय परम्परा समर्थ साधक के लिये हर युग में अचेलता का समर्थन करती है। जहाँ श्वेताम्बर परम्परा वस्त्र-ग्रहण को सामान्य नियम या उत्सर्ग मार्ग मानने लगी वहाँ यापनीय परम्परा उसे अपवाद मार्ग के रूप में ही स्वीकार करती रही। अत: उसके अनुसार आगमों में जो वस्त्र-पात्र सम्बन्धी निर्देश हैं, वे मात्र आपवादिक स्थितियों के हैं। दुर्भाग्य से मुझे यापनीय ग्रन्थों में इस तथ्य का कहीं स्पष्ट निर्देश नहीं मिला कि आपवादिक लिंग में कितने वस्त्र या पात्र रखे जा सकते थे।

यापनीय ग्रन्थ भगवतीआराधना[३३] की टीका में यापनीय आचार्य अपराजित सूरि लिखते हैं कि चेल (वस्त्र) का ग्रहण, परिग्रह का उपलक्षण है, अत: समस्त प्रकार के परिग्रह का त्याग ही आचेलक्य है। आचेलक्य के लाभ या समर्थन में आगे वे लिखते हैं—

१. अचेलकत्व के कारण त्याग धर्म (दस धर्मों में एक धर्म) में प्रवृत्ति होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. जो अचेल होता है, वही अकिंचन धर्म के पालन में तत्पर होता है।

३. परिग्रह (वस्त्रादि) के लिये हिंसा (आरम्भ) में प्रवृत्ति होती है, जो अपरिग्रही है, वह हिंसा (आरम्भ) नहीं करता है। अत: पूर्ण अहिंसा के पालन के लिये अचेलता आवश्यक है।

४. परिग्रह के लिये ही झूठ बोला जाता है। बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह के अभाव में झूठ बोलने का कोई कारण नहीं होता, अत: अचेल-मुनि सत्य ही बोलता है।

५. अचेल में लाघव भी होता है।

६. अचेलधर्म का पालन करने वाले का अदत्त-त्याग भी सम्पूर्ण होता है क्योंकि परिग्रह की इच्छा होने पर ही बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण करने में प्रवृत्ति होती है।

७. परिग्रह के निमित्त क्रोध कषाय होता है, अत: परिग्रह के अभाव में क्षमा-भाव रहता है।

८. अचेल को सुन्दर या सम्पन्न होने का मद भी नहीं होता, अत: उसमें आर्जव (सरलता) धर्म भी होता है।

९. अचेल में माया (छिपाने की प्रवृत्ति) नहीं होती, अत: उसके आर्जव (सरलता) धर्म भी होता है।

१०. अचेल शीत, उष्ण, दंश, मच्छर आदि परीषहों को सहता है, अत: उसे घोर तप भी होता है।

पुन: वे अचेलकत्व की प्रशंसा करते हुए लिखते है—

१. अचेलता से शुद्ध संयम का पालन होता है, पसीना, धूल और मैल से युक्त वस्त्र में उसी योनि वाले और उसके आश्रय से रहने वाले त्रस जीव तथा स्थावर जीव उत्पन्न होते है। वस्त्रधारण करने से उन्हें बाधा भी उत्पन्न होती है। जीवों से संसक्त वस्त्रधारण करने वाले के द्वारा उठने, बैठने, सोने, वस्त्रको फाड़ने, काटने, बाँधने, धोने, कूटने, धूप में डालने से जीवों को बाधा (पीड़ा) होती है, जिससे महान् असंयम होता है।

२. अचेलता से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है। जिस प्रकार सर्पों से युक्त जंगल में व्यक्ति बहुत सावधान रहता है उसी प्रकार जो अचेल होता है वह इन्द्रियों (कामवासना) पर विजय प्राप्त करने में पूर्णतया सावधान रहता है। क्योंकि ऐसा नहीं करने पर शरीर में विकार (कामोत्तेजना) उत्पन्न होने पर लज्जित होना पड़ता है।

३. अचेलता का तीसरा गुण कषायरहित होना है, क्योंकि वस्त्र के सद्भाव में उसे चोरों से छिपाने के लिये मायाचार करना होता है। वस्त्र होने पर मेरे पास सुन्दर वस्त्रें, ऐसा अहंकार भी हो सकता है, वस्त्र के छीने जाने पर क्रोध तथा उसकी प्राप्ति में लोभ भी हो सकता है, जबकि अचेलक में ऐसे दोष उत्पन्न नहीं होते हैं।

४. सवस्त्र होने पर सुई, धागा, वस्त्र आदि की खोज में तथा उसके सीने, धोने, प्रतिलेखना आदि करने में ध्यान और स्वाध्याय का समय नष्ट होता है। अचेल को ध्यान-स्वाध्याय में बाधा नहीं होती।

५. जिस प्रकार बिना छिलके (आवरण) का धान्य नियम से शुद्ध होता है, किन्तु छिलकेयुक्त धान्य की शुद्धि नियम से नहीं होती, वह भाज्य होती है, उसी प्रकार जो अचेल है उसकी शुद्धि निश्चित होती है, किन्तु सचेल की शुद्धि भाज्य है (एवमचेलवतिनियमादेव, भाज्या सचेले। भगवतीआराधना-४२३ पर विजयोदया टीका, पृ० ३२२), अर्थात् सचेल की शुद्धि हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है। यहाँ दिगम्बर परम्परा और यापनीय परम्परा का अन्तर स्पष्ट है। दिगम्बर परम्परा यह मानती है कि सचेल मुक्त (शुद्ध) नहीं हो सकता, चाहे वह तीर्थङ्कर ही क्यों न हो जबकि यापनीय परम्परा यह मानती है कि स्त्री, गृहस्थ और अन्यतैर्थिक सचेल हेकर भी मुक्त हो सकते हैं। यहाँ भाज्य (विकल्प) शब्द का प्रयोग यापनीयों की उदार और अनेकान्तिक दृष्टि का परिचायक है।

६. अचेलता में राग-द्वेष का अभाव होता है। राग-द्वेष बाह्य द्रव्य के आलम्बन से होता है। परिग्रह के अभाव में आलम्बन का अभाव होने से राग-द्वेष नहीं होते, जबकि सचेल को मनोज्ञ वस्त्र के प्रति राग-भाव हो सकता है।

७. अचेलक शरीर के प्रति उपेक्षा भाव रखता है, तभी तो वह शीत और ताप के कष्ट सहन करता है।

८. अचेलता में स्वावलम्बन होता है और देशान्तर गमन में किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं होती। जिस प्रकार पक्षी अपने पंखों के सहारे चल देता है, वैसे ही वह भी प्रतिलेखन (पीछी) लेकर चल देता है।

९. अचेलता में चित्त-विशुद्धि प्रकट करने का गुण है। लँगोटी आदि से ढँकने से भाव-शुद्धि का ज्ञान नहीं होता है।

१०. अचेलता में निर्भयता है, क्योंकि चोर आदि का भय नहीं रहता।

११. सर्वत्र विश्वास भी अचेलता का गुण है। न तो वह किसी पर शंका करता है और न कोई उस पर शंका करता है।

१२. अचेलता में प्रतिलेखना का अभाव होता है। चौदह प्रकार का परिग्रह रखने वालों को जैसी प्रतिलेखना करनी होती है वैसी अचेल को नहीं करनी होती।

१३. सचेल को लपेटना, छोड़ना, सीना, बाँधना, धोना, रँगना आदि परिकर्म करने होते हैं जबकि अचेल को ये परिकर्म नहीं करने होते।

१४. तीर्थङ्करों के अनुरूप आचरण करना (जिनकल्प का आचरण) भी अचेलता का एक गुण है। क्योंकि संहनन और बल से पूर्ण सभी तीर्थङ्कर अचेल थे और भविष्य में भी अचेल ही होंगे। जिनप्रतिमा और गणधर भी अचेल होते हैं और उनके शिष्य भी उन्हीं की तरह अचेल होते हैं। जो सवस्त्र है वह जिन के अनुरूप नहीं है अर्थात् जिनकल्प का पालन नहीं करता है।

१५. अचेल ही निर्ग्रन्थ कहला सकता है। यदि अपने शरीर को वस्त्र से वेष्टित करके भी अपने को निर्ग्रन्थ कहा जा सकता है, तो फिर अन्य परम्परा के साधु निर्ग्रन्थ क्यों नहीं कहे जायेंगे अर्थात् उन्हें भी निर्ग्रन्थ मानना होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यापनीय परम्परा स्पष्ट रूप से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अचेलकत्व की समर्थक है। किन्तु उनके सामने एक समस्या यह थी कि वे श्वेताम्बर-परम्परा में स्वीकृत उन आगमों की माथुरी वाचना को मान्य करते थे, जिनमें वस्त्रपात्रादि ग्रहण करने के स्पष्ट उल्लेख थे। अत: उनके समक्ष दो प्रश्न थे—एक ओर अचेलकत्व का समर्थन करना और दूसरी ओर आगमिक उल्लेखों की अचेलकत्व के सन्दर्भ में सम्यक् व्याख्या करना। अपराजित सूरि ने इस सम्बन्ध में भगवतीआराधना की विजयोदया टीका में जो सम्यक् दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है वह अचेलकत्व के आदर्श के सम्बन्ध में यापनीयों की यथार्थ-दृष्टि का परिचायक है।

अपराजित ने सर्वप्रथम आगमों के उन सन्दर्भों को प्रस्तुत किया है, जिनमें वस्त्र-पात्र सम्बन्धी उल्लेख हैं, फिर उनका समाधान प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं—'आचारप्रणिधि' अर्थात् दशवैकालिक[३४] के आठवें अध्याय में कहा गया है कि पात्र और कम्बल की प्रतिलेखना करनी चाहिए। यदि पात्रादि नहीं होते तो उनकी प्रतिलेखना का कथन क्यों किया जाता? पुन: आचारांग[३५] के 'लोक-विचय' नामक दूसरे अध्ययन के पाँचवें उद्देशक में कहा गया है कि प्रतिलेखन (पडिलेहण), पादप्रोंछन (पायपुच्छन), अवग्रह (उग्गह), कटासन (कडासण), चटाई आदि की याचना करे। पुन: उसके 'वस्त्रैषणा'[३६] अध्ययन में कहा गया है कि जो लज्जाशील है वह एक वस्त्र धारण करे, दूसरा वस्त्र प्रतिलेखना हेतु रखे। जुंगित (देश-विशेष) में दो वस्त्र धारण करे और तीसरा प्रतिलेखना हेतु रखे, यदि शीत परीषह सहन नहीं हो तो तीन वस्त्र धारण करे और चौथा प्रतिलेखना हेतु रखे। पुन: उसके पात्रैषणा[३७] में कहा गया है कि लज्जाशील, जुंगित अर्थात् जिसके लिंग आदि हीनाधिक हो तथा पात्रादि रखता हो उसे वस्त्र रखना कल्पता है। पुन: उसमें कहा गया है तुम्बी का पात्र, लकड़ी का पात्र अथवा मिट्टी का पात्र यदि जीव, बीजादि से रहित हो तो ग्राह्य है। यदि वस्त्र-पात्र ग्राह्य नहीं होते तो फिर ये सूत्र आगम में क्यों आते? पुन: आचारांग[३८] के 'भावना' नामक अध्ययन में कहा गया है कि भगवान् एक वर्ष तक चीवरधारी रहे, उसके बाद अचेल हो गये। साथ ही सूत्रकृतांग[३९] के 'पुण्डरीक' नामक अध्ययन में कहा गया है कि भिक्षु, वस्त्र और पात्र के लिये धर्मकथा न कहे। निशीथ[४०] में कहा गया है कि जो भिक्षु अखण्ड-वस्त्र और कम्बल धारण करता है उसे मास-लघु (प्रायश्चित्त का एक प्रकार) प्रायश्चित्त आता है। इस प्रकार आगम में वस्त्र-ग्रहण की अनुज्ञा होने पर भी अचेलता का कथन क्यों किया जाता है? इसका समाधान करते हुए स्वयं अपराजितसूरि कहते हैं[४१] कि आगम में कारण की अपेक्षा से आर्यिकाओं को वस्त्र की अनुज्ञा है, यदि भिक्षु लज्जालु हैं अथवा उसकी जननेन्द्रिय त्वचारहित हो या अण्डकोष लम्बे हों अथवा वह परीषह (शीत) सहन करने में अक्षम हो तो उसे वस्त्रधारण करने की अनुज्ञा है। आचारांग[४२] में ही कहा गया है कि संयमाभिमुख स्त्री-पुरुष दो प्रकार के होते हैं—सर्वश्रमणागत और नो-सर्वश्रमणागता। उनमें सर्वश्रमणागत स्थिरांग वाले पाणि-पात्र भिक्षु को प्रतिलेखन के अतिरिक्त एक भी वस्त्र धारण करना या छोड़ना नहीं कल्पता है। बृहत्कल्पसूत्र[४३] में भी कहा गया है कि लज्जा के कारण अंगों के ग्लानियुक्त होने पर देह के जुंगित (वीभत्स) होने पर अथवा परीषह (शीतपरीषह) सहन करने में असमर्थ होने पर वस्त्र धारण करे। पुन: आचारांग[४४] में यह भी कहा गया है, यदि ऐसा जाने की शीतऋतु (हेमन्त) समाप्त हो गयी है तो जीर्ण वस्त्र प्रतिस्थापित कर दे अर्थात् उनका त्याग कर दे। इस प्रकार (आगमों में) कारण की अपेक्षा से वस्त्र का ग्रहण कहा है। जो उपकरण कारण की अपेक्षा से ग्रहण किया जाता है उसके ग्रहण करने की विधि और गृहीत उपकरण का त्याग अवश्य कहा जाता है। अत: आगम में वस्त्र-पात्र की जो चर्या बतायी गयी है वह कारण की अपेक्षा से अर्थात् आपवादिक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यापनीय संघ मात्र आपवादिक स्थिति में वस्त्र-ग्रहण को स्वीकार करता था और उत्सर्ग मार्ग अचेलता को ही मानता था। आचारांग के 'भावना' नामक अध्ययन में महावीर के एक वर्ष तक वस्त्रयुक्त होने के उल्लेख को वह विवादास्पद मानता था। अपराजित ने इस सम्बन्ध में विभिन्न प्रवादों का उल्लेख भी किया है[४५]— जैसे कुछ कहते हैं कि वह छ: मास में काँटे, शाखा आदि से छिन्न हो गया। कुछ कहते हैं कि एक वर्ष से कुछ अधिक होने पर उस वस्त्र को खण्डलक नामक ब्राह्मण ने ले लिया। कुछ कहते हैं कि वह वस्त्र वायु से गिर गया और भगवान् ने उसकी उपेक्षा कर दी। कोई कहते हैं कि विलम्बनकारी ने उसे जिन के कन्धे पर रख दिया आदि। इस प्रकार अनेक विप्रतिपत्तियों के कारण अपराजित की दृष्टि में इस कथन में कोई तथ्य नहीं है। पुन: अपराजित ने आगम से अचेलता के समर्थक अनेक सूत्र भी उद्धृत किये हैं[४६], यथा—"वस्त्रों का त्याग कर देने पर भिक्षु पुन: वस्त्र-ग्रहण नहीं करता तथा अचेल होकर जिन-रूप धारण करता है। भिक्षु यह नहीं सोचे कि सचेलक सुखी होता है और अचेलक दु:खी होता है, अत: मैं सचेलक हो जाऊँ। अचेल को कभी शीत बहुत सताती है, फिर भी वह धूप का विचार न करे। मुझ निरावरण के पास कोई छादन नहीं है, अत: मैं अग्नि का सेवन कर लूँ, ऐसा भी नहीं सोचे।" इसी प्रकार उन्होंने उत्तराध्ययन के २३ वें अध्ययन की गाथायें उद्धृत करके यह बताया कि पार्श्व का धर्म सान्तरुत्तर था। महावीर का धर्म तो अचेलक ही था। पुन: दशवैकालिक में मुनि को नग्न और मुण्डित कहा गया है। इससे भी आगम में अचेलता ही प्रतिपाद्य है, यह सिद्ध होता है।

इस समग्र चर्चा के आधार पर यापनीय संघ का वस्त्र-सम्बन्धी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। उनके इस दृष्टिकोण को संक्षेप में निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. श्वेताम्बर परम्परा, जो जिनकल्प के विच्छेद की घोषणा के द्वारा वस्त्र आदि के सम्बन्ध में महावीर की वैकल्पिक व्यवस्था को समाप्त करके सचेलकत्व को ही एक मात्र विकल्प बना रही थी, यह बात यापनीयों को मान्य नहीं थी।

२. यापनीय यह मानते थे कि जिनकल्प का विच्छेद सुविधावादियों की अपनी कल्पना है। समर्थ साधक इन परिस्थितियों में या इस युग में भी अचेल रह सकता है। उनके अनुसार अचेलता (नग्नता) ही

जिन का आदर्श मार्ग है, अत: मुनि को अचेल या नग्न ही रहना चाहिये।

३. यापनीय आपवादिक स्थितियों में ही मुनि के लिये वस्त्र की ग्राह्यता को स्वीकार करते थे, उनकी दृष्टि में ये आपवादिक स्थितियाँ निम्नलिखित थीं—

(क) राज-परिवार आदि अतिकुलीन घराने के व्यक्ति जन-साधारण के समक्ष नग्नता छिपाने के लिये वस्त्र रख सकते हैं।

(ख) इसी प्रकार वे व्यक्ति भी जो अधिक लज्जाशील हैं अपनी नग्नता को छिपाने के लिये वस्त्र रख सकते हैं।

(ग) वे नवयुवक मुनि जो अभी अपनी काम-वासना को पूर्णत: विजित नहीं कर पाये हैं और जिन्हें लिंगोत्तेजना आदि के कारण निर्ग्रन्थ संघ में और जनसाधारण में प्रवाद का पात्र बनना पड़े, अपवाद रूप में वस्त्र रख सकते हैं।

(घ) वे व्यक्ति जिनके लिंग और अण्डकोष विद्रूप हैं, वे संलेखना के अवसर को छोड़कर यावज्जीवन वस्त्रधारण करके ही रहें।

(ङ) वे व्यक्ति जो शीतादि परीषह-सहन करने में सर्वथा असमर्थ हैं, अपवाद रूप में वस्त्र रख सकते हैं।

(च) वे मुनि जो अर्श, भगन्दर आदि की व्याधि से ग्रस्त हों, बीमारी की स्थिति में वस्त्र रख सकते हैं।

४. जहाँ तक साध्वियों का प्रश्न था यापनीय संघ में स्पष्ट रूप से उन्हें वस्त्र रखने की अनुज्ञा थी। यद्यपि साध्वियाँ भी एकान्त में संलेखना के समय जिन-मुद्रा अर्थात् अचेलता धारण कर सकती थीं।

इस प्रकार यापनीयों का आदर्श अचेलकत्व ही रहा, किन्तु अपवाद मार्ग में उन्होंने वस्त्र-पात्र की ग्राह्यता भी स्वीकार की। वे यह मानते हैं कि कषायत्याग और रागात्मकता को समाप्त करने के लिये सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग, जिसमें वस्त्र-त्याग भी समाहित है, आवश्यक है, किन्तु वे दिगम्बर परम्परा के समान एकान्त रूप से यह घोषणा नहीं करते हैं कि वस्त्रधारी चाहे वह तीर्थङ्कर ही क्यों नहीं हो, मुक्त नहीं हो सकता। वे सवस्त्र में भी आध्यात्मिक विशुद्धि और मुक्ति की भजनीयता अर्थात् सम्भावना को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार वे अचेलकत्व सम्बन्धी मान्यता के सन्दर्भ में दिगम्बर परम्परा के निकट खड़े होकर भी अपना भिन्न मत रखते हैं। वे अचेलकत्व के आदर्श को स्वीकार करके भी सवस्त्र मुक्ति की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। पुन: मुनि के लिये अचेलकत्व का पुरजोर समर्थन करके भी वे यह नहीं कहते हैं कि जो आपवादिक स्थिति में वस्त्र धारण कर रहा है, वह मुनि नहीं है। जहाँ हमारी वर्तमान दिगम्बर परम्परा मात्र लँगोटधारी ऐलक, एक चेलक या दो वस्त्रधारी, क्षुल्लक को मुनि न मानकर उत्कृष्ट श्रावक ही मानती है, वहाँ यापनीय परम्परा ऐसे व्यक्तियों की गणना मुनिवर्ग के अन्तर्गत ही करती है। अपराजित आचारांग का एक सन्दर्भ देकर, जो वर्तमान आचारांग में नहीं पाया जाता है, कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति नो-सर्वश्रमणागत हैं। तात्पर्य यह है कि सवस्त्र मुनि अंशत: श्रमणभाव को प्राप्त हैं। इस प्रकार यापनीय आपवादिक स्थितियों में परिस्थितिवश वस्त्र-ग्रहण करने वाले श्रमणों को श्रमण ही मानते हैं, गृहस्थ नहीं। यद्यपि यापनीय और दिगम्बर दोनों ही अचेलकत्व के समर्थक हैं, फिर भी वस्त्र के सम्बन्ध में यापनीयों का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत उदार एवं यर्थाथवादी रहा है। आपवादिक स्थिति में वस्त्र-ग्रहण, सचेल की मुक्ति की सम्भावना, सचेल स्त्री और पुरुष दोनों में श्रमणत्व या मुनित्व का सद्भाव—उन्हें अचेलता के प्रश्न पर दिगम्बर परम्परा से भिन्न करता है, जबकि आगमों में वस्त्र-पात्र के उल्लेख मात्र आपवादिक स्थिति के सूचक हैं और जिनकल्प का विच्छेद नहीं हैं, यह बात उन्हें श्वेताम्बरों से अलग करती है।

जिनकल्प एवं स्थविरकल्प

अचेलकत्व एवं सचेलकत्व सम्बन्धी इस चर्चा के प्रसंग में जिनकल्प और स्थविरकल्प की चर्चा भी अप्रासंगिक नहीं होगी। श्वेताम्बर मान्य आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं में जिनकल्प और स्थविरकल्प की जो चर्चा मिलती है, उससे यह फलित होता है कि प्रारम्भ में अचेलता अर्थात् नग्नता को जिनकल्प का प्रमुख लक्षण माना गया था, किन्तु कालान्तर में जिनकल्प शब्द की व्याख्या में क्रमश: परिवर्तन हुआ है। जिनकल्पी की कम से कम दो उपधि (मुखवस्त्रिका और रजोहरण) मानी गई किन्तु ओघनिर्युक्ति के लिये जिनकल्प शब्द का सामान्य अर्थ तो जिन के अनुसार आचरण करना है। जिनकल्प की बारह उपधियों का भी उललेख है। कालान्तर में श्वेताम्बर आचार्यों ने उन साधुओं को जिनकल्पी कहा जो गच्छ का परित्याग करके एकाकी विहार करते थे तथा उत्सर्ग मार्ग के ही अनुगामी होते थे। वस्तुत: जब श्वेताम्बर परम्परा में अचेलता का पोषण किया जाने लगा तो जिनकल्प की परिभाषा में भी अन्तर हुआ। निशीथचूर्णि में जिनकल्प और स्थविरकल्प की परिभाषा देते हुए कहा है कि जिनकल्प में मात्र उत्सर्ग मार्ग का ही अनुसरण किया जाता है। अत: उसमें कल्पप्रतिसेवना और दर्पप्रतिसेवना दोनों का अर्थात् किसी भी प्रकार के अपवाद के अवलम्बन का ही निषेध है जबकि स्थविरकल्प में उत्सर्ग और अपवाद दोनों ही मार्ग स्वीकार किये गए हैं। यद्यपि अपवाद मार्ग में भी मात्र कल्पप्रतिसेवना को ही मान्य किया गया है। दर्पप्रतिसेवना को किसी भी स्थिति में मान्य नहीं किया गया है।

श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों में प्रारम्भ में तो भगवान् महावीर के समान नग्नता को ग्रहण कर, कर-पात्र में भोजन ग्रहण करते हुए अपवादरहित जो मुनिधर्म की कठिन साधना की जाती है, उसे ही जिनकल्प कहा गया है किन्तु कालान्तर में इस परिभाषा में परिवर्तन हुआ।

यापनीय परम्परा में जिनकल्प का उल्लेख हमें भगवतीआराधना और उसकी विजयोदया टीका में मिलता है। उसमें कहा गया है कि "जो राग-द्वेष और मोह को जीत चुके हैं, उपसर्ग को सहन करने में समर्थ हैं, जिन के समान एकाकी विहार करते हैं, वे जिनकल्पी कहलाते हैं" क्षेत्र आदि की अपेक्षा से विवेचन करते हुए उसमें आगे कहा गया है कि जिनकल्पी सभी कर्मभूमियों और सभी कालों में होते हैं। इसी प्रकार चारित्र की दृष्टि से वे सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र वाले होते हैं। वे सभी तीर्थङ्करों के तीर्थ में पाए जाते हैं और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जन्म की अपेक्षा से ३० वर्ष की वय और मुनि-जीवन की अपेक्षा से १९ वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले होते हैं। ज्ञान की दृष्टि से नव-दस पूर्व-ज्ञान के धारी होते हैं। वे तीनों शुभ लेश्याओं से युक्त होते हैं और वज्रऋषभ नाराच-संहनन के धारक होते हैं।[४७]

अपराजित के अतिरिक्त जिनकल्प और स्थाविरकल्प का उल्लेख यापनीय आचार्य शाकटायन के स्त्रीमुक्तिप्रकरण में भी है।[४८] इससे यह प्रतीत होता है कि जिनकल्प की अवधारण श्वेताम्बर एवं यापनीय दोनों परम्पराओं में लगभग समान ही थी। मुख्य अन्तर यह है कि यापनीय परम्परा में जिनकल्पी के द्वारा वस्त्र-ग्रहण का कोई उल्लेख नहीं है, क्योंकि उसमें मुनि के लिये वस्त्र-पात्र की स्वीकृति केवल अपवाद मार्ग में है, उत्सर्ग मार्ग में नहीं और जिनकल्पी उत्सर्ग मार्ग का अनुसारण करता है। अत: यापनीय परम्परा के अनुसार वह किसी भी स्थिति में वस्त्र-पात्र नहीं रख सकता। वह अचेल ही रहता है और पाणि-पात्री होता है। जबकि श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों के अनुसार जिनकल्पी अचेल भी होता है और सचेल भी। वे पाणि-पात्री भी होते हैं और सपात्र भी होते हैं। ओघनिर्युक्ति (गाथा ७८-७९) में उपधि (सामग्री) के आधार पर जिनकल्प के भी अनेक भेद किये गए हैं।

इसी प्रकार निशीथभाष्य में भी जिनकल्पी की उपधि को लेकर विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। उसमें सर्वप्रथम यह बताया गया है कि पात्र की अपेक्षा से जिनकल्पी दो प्रकार के होते हैं—पाणिपात्र अर्थात् बिना पात्र वाले और पात्रधारी। इसी प्रकार वस्त्र की अपेक्षा से भी उसमें जिनकल्पियों के दो प्रकार बताए गए हैं—अचेलक और सचेलक। पुन: इनकी उपधि की चर्चा करते हुए कहा गया है कि अचेलक और पाणिपात्रभोजी जिनकल्पी होते हैं वे रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो उपकरण रखते हैं। जो सपात्र और सवस्त्र होते हैं उनकी उपधि की संख्या कम से कम तीन और अधिक से अधिक बारह होती है। स्थाविरकल्पी की जिन चौदह उपधियों का उल्लेख किया गया है उनमें मात्रक और चूलपट्टक ये दो उपधि जिनकल्पी नहीं रखते हैं।[४९]

यापनीयों की दूसरी विशेषता यह है कि वे श्वेताम्बरों के समान जिनकल्प का विच्छेद नहीं मानते। उनके अनुसार समर्थ साधक सभी कालों में जिनकल्प को धारण कर सकते हैं, जबकि श्वेताम्बरों के अनुसार जिनकल्पी केवल तीर्थङ्कर की उपस्थिति में ही होते हैं। यद्यपि यापनीयों की इस मान्यता में उनकी ही व्याख्यानुसार एक अन्तर्विरोध आता है, क्योंकि उन्होंने अपनी जिनकल्पी की व्याख्या में यह माना है कि जिनकल्पी नौ-दस पूर्वधारी और प्रथम संहनन के धारक होते हैं। चूँकि उनके अनुसार भी वर्तमान में पूर्वों का ज्ञान और प्रथम संहनन (वज्र-ऋषभ- नाराच-संहनन) का अभाव है, अत: जिनकल्प सर्वकालों में कैसे सम्भव होगा? इन दो-तीन बातों को छोड़कर यापनीय और श्वेताम्बर परम्परा में जिनकल्प के सम्बन्ध में विशेष अन्तर नहीं है। विशेष जानकारी के लिये भगवती-आराधना की टीका और बृहत्कल्पभाष्य के तत्सम्बन्धी विवरणों को देखा जा सकता है।

ज्ञातव्य है कि दिगम्बर-ग्रन्थ गोम्मटसार और यापनीय ग्रन्थ भगवतीआराधना की टीका में जिनकल्प को लेकर एक महत्त्वपूर्ण अन्तर परिलक्षित होता है, वह यह कि जहाँ गोम्मटसार में जिनकल्पी मुनि को मात्र सामायिक चारित्र माना गया है, वहाँ भगवतीआराधना में उनमें सामायिक और छेदोपस्थापनीय ऐसे दो चारित्र माने गए हैं। वस्तुत: यह अन्तर इसलिये आया कि जब दिगम्बर परम्परा में छेदोपस्थापनीय चारित्र का अर्थ महाव्रतारोपण से भिन्न होकर प्रायश्चित रूप पूर्व-दीक्षा पर्याय के छेद के अर्थ में लिया गया, तो जिनकल्पी में प्रायश्चित्त रूप छेदोपस्थापनीय चारित्र का निषेध मानना आवश्यक हो गया, क्योंकि जिनकल्पी की साधना निरपवाद होती है। हमें जिनकल्प और स्थविरकल्प का उल्लेख प्राय: श्वेताम्बर एवं यापनीय परम्परा में ही देखने को मिला है। दिगम्बर परम्परा में यापनीय प्रभावित ग्रन्थों को छोड़कर प्राय: इस चर्चा का अभाव ही है।

सन्दर्भ

१. णिच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिण वरिंदेहि।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे।। — सूत्रप्राभृत, १०।

२. एगयाऽ चेलए होइ सचेले यावि एगया। — उत्तराध्ययन, २/१३।

३. उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तयं चेव।
अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंगं।।
— भगवतीआराधना, ७६।

४. णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइवि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्ख मग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।।
— सूत्रप्राभृत, २३।

५. (अ) से बेमि जे य अईया जे य पडुप्पन्ना जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंतो जे य पव्वयंति जे उन पव्वइस्संति सव्वे ते सोवही धम्मो देसिअव्वोत्ति कट्टु तित्थधम्मत्थाए एसाएणुधम्मिग ति एवं देवदूसमायाए पव्वइंसु वा पव्वयंति वा पव्वइसंति वा।
— आचारांग १/९/१-१ (शीलांक टीका), भाग, पृ० २७३, सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, सूरत, १९३५.

(ब) सव्वेऽवि एगदूसेण, निग्गया जिनवरा चउव्वीसं।
— आवश्यकनिर्युक्ति २२७, हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखाबावल, शांतिपुरी (सौराष्ट्र), १९८९।

६. (अ) आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२५८।
(ब) वही, १२६०।

७. अचेलगो य जो धम्मो जो इमोसंतरुत्तरो।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महाजसा।।
— उत्तराध्ययन, २३/२९

८. वही, २३/२४।

९. मुनयो वातरशना पिशङ्गा वसते मला:।
वातस्यानु ध्राजिम यंति यद्देवासो अविक्षत।।
— ऋग्वेद, १०/१३६/२।

१०. ऋग्वेद में अर्हत् और ऋषभवाची ऋचाएँ : एक अध्ययन, डॉ० सागरमल जैन, संधान, अंक ७, राष्ट्रीय मानव संस्कृति शोध

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संस्थान, वाराणसी, १९९३, पृ० २२।
११. श्रीमद्भागवत, २/७/१०।
१२. (अ) उत्तराध्ययनसूत्र, २३/२६।
(ब) यथोक्तम्-पुरिमं पच्छिमाणं अरहंताणं भगवंताणं अचेलये पसत्थे भवइ। उत्तराध्ययन— नेमिचन्द की टीका, आत्मवल्लभ, ग्रन्थांक २२, बालापुर, १९३७, २/१३, पृ० २२ पर उद्धृत।
१३. उत्तराध्ययन, २२/३३-३४।
१४. वही, २३/२९।
१५. 'जो इमो' त्ति यश्चायं सान्तराणि वर्धमानस्वामियत्यपेक्षयामानवर्णविशेषत: सविशेषाणि उत्तराणि- महामूल्यतया प्रधानानि प्रक्रमाद् वस्त्राणि यस्मिन्नसौ सान्तरोत्तरो धर्म: पार्श्वेन देशित इतीहाऽप्यपेक्ष्यते।
— उत्तराध्ययन, नेमिचन्दकृत सुखबोधावृत्ति सहित, पृ० २९५, बालापुर, २३/१२, वीर नि० सं० २४६३
१६. परिसुद्धं जुण्णं कुच्छितं थोवाणियत ऽण्ण भोगभोगेहि मुणयो मुच्छारहिता संतेहि अचेलया होंति।।
विशेषावश्यकभाष्य, पं० दलसुख मालवणिया, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद, गाथा ३०८२, १९६६।
१७. अहपुण एवं जाणिज्जा- उवाइक्कंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठविज्जा, अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले। अपगते शीते वस्त्राणि त्याज्यानि अथवा क्षेत्रादिगुणाद्धिमकणिनि वाते वाति सत्यात्मपरितुलनार्थं शीतपरीक्षार्थं च सान्तरोत्तरो भवेत् सान्तरमुत्तरं - प्रावरणीयं यस्य स तथा, क्वचित्प्रावृणोति क्वचित्पार्श्ववर्ति बिभर्ति, शीताशङ्कया नाद्यापि परित्यजति, अथवाऽवमचेल एककल्पपरित्यागात्, द्विकल्पधारीत्यर्थ: अथवा शनै:-शनै: शीतेऽपगच्छति सति द्वितीयमपि कल्पं परित्यजेत् तत् एकशाटक: संवृत्त: अथवा ऽऽत्यन्तिके शीताभावे तदपि परित्यजेदतोऽचेलो भवति।
— आचारांग (शीलांकवृत्ति), सं० जम्बूविजय, १/८/४, सूत्र २१२, पृ० २७७।
१८. देखें, उपरोक्त।
१९. देखें, उपरोक्त।
२०. देखें, उपरोक्त।
२१. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैन साहित्य का इतिहास (पूर्वपीठिका), गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, वी०नि० सं० २४८९, पृ० ३९९।
२२. णो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तंसि हेमंते।
से पारए आवकहाए, एयं खु अणुधम्मियं तस्स।।
संवच्छरं साहियं मासं जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं।
अचेलए ततो चाई तं वोसज्ज वत्थमणगारे।।
—आयारो, १/९/१/२ एवं ३
२३. (अ) यच्च भावनायामुक्तं— **वरिसं चीवरधारी तेण परमचेलगो जिणोत्ति**— तदुक्तं विप्रतिपत्तिबहुलत्वात्। कथं केचिद्वदन्ति तस्मिन्नेव दिने तद्वस्त्रं वीरजिनस्य विलम्बनकारिणा गृहीतमिति। अन्ये षण्मासाच्छिन्नं तत्कण्टकशाखादिभिरिति। साधिकेन वर्षेण तद्वस्त्रं खण्डलकब्राह्मणेन गृहीतमिति केचित्कथयन्ति। केचिद्वातेन पतितमुपेक्षितं जिनेनेति। अपरे वदन्ति विलम्बनकारिणा जिनस्य स्कन्धे तदारोपितमिति।
— भगवतीआराधना, गाथा ४२३ की विजयोदया टीका, सम्पादक पं० कैलाशचन्द्रजी, भाग १, पृ० ३२५-३२६.
(ब) तच्च सुवर्णवालुकानदीपूराहृतकण्टकावलग्नं धिग्जातिना गृहीतमिति।
— आचारांग, शीलांकवृत्ति, १/९/१/४-की वृत्ति।
(स) तहावि सुवण्णबालुगानदीपूरे अवहिते कंटराएग्गं...। किमिति वुच्चति चिरधरियत्ता सहसा व लज्जता थंडिले चुतं णवित्ति विप्पेण केणति दिट्ठं..।
— आचारांगचूर्णि ऋषभदेव केसरीमल संस्था, रतलाम, पृ० ३००।
(द) सामी दक्खिणवाचालाओ उत्तरवाचालं वच्चति, तत्थ सुव्वण्णकुलाए वुलिणे तं वत्थं कंटियाए लग्गं ताहे तं थितं सामी गतो पुणो य अवलोइतं, किं निमित्तं? केती भणंति - जहा ममत्तीए अन्ने भणंति मा अत्थंडिले पडितं, अवलोइतं सुलभ वत्थं पत्तं सिस्साणं भविस्सति? तं च भगवता य तेरसमासे अहाभावेणं धारियं ततो वोसरियं पच्छा अचेलत्ते। तं एतेण पितुवंतस धिज्जातितेण गहितं।
— आवश्यकचूर्णि, भाग १, ऋषभदेव केसरीमल संस्थान, रतलाम, पृ० २७७।
इससे यह फलित होता है कि उनके वस्त्रत्याग के सम्बन्ध में जो विभिन्न प्रवाद प्रचलित थे—उनका उल्लेख न केवल यापनीय अपितु श्वेताम्बर आचार्य भी कर रहे थे।
२४. आचारांग, शीलांकवृत्ति, १/९/१/१-४, पृ० २७३।
२५. (अ) सव्वेऽवि एगदूसेण, निग्गया जिणवरा चउव्वीसं।
न य नाम अण्णलिंगे, नो गिहिलिंगे कुलिंगे वा।।
—आवश्यकनिर्युक्ति, २२७.
(ब) बावीसं तित्थयरा सामाइयसंजमं उवइसंति।
छेओवट्ठावणयं पुण वयंति उसभो य वीरो य।।
—आवश्यकनिर्युक्ति, १२६०.
२६. (अ) एवमेगे उ पासत्था। सूत्रकृतांग, १/३/४/९
(ब) पासत्थादीपणयं णिच्चं वज्जेह सव्वधा तुम्हे।
हंदि हु मेलणदोसेण होइ पुरिसस्स तम्मयदा।।
—भगवतीआराधना, गाथा ३४१.
२७. छक्कायरक्खणट्ठा पायग्गहणं जिणेहिं पन्नत्तं
जे य गुणा संभोए हवंति ते पायगहणेवि।।
—ओघनिर्युक्ति, ६९१.
२८. निग्गंथाा एक साटका। मज्झिमनिकाय— महासिंहनादसुत्त, १/१/२।
२९. देखें—दीघनिकाय, अनु० भिक्षु राहुल सांकृत्यायन एवं भिक्षु जगदीश कश्यप, महाबोधि सभा, बनारस १९३६, पासादिकसुत्त ३/६, पृ० २५२।
३०. भगवई, पन्नरसं सतं, १०१-१५२, सं० मुनि नथमल, जैन विश्वभारती लाडनूँ, वि० सं० २१३१, पृ० ६७७-६९४।
३१. देखें— दीघनिकाय, पासादिकसुत्तं, ३/६, पृ० २५२।
३२. धम्मपद, अट्ठकथा, तृतीय भाग, गाथा ४८९।
३३. भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गाथा ४२३, सं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १९३८, पृ०३२४।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३४. धुवं च पडिलेहेज्जा जोगसा पायकंबलं।
सेज्जमुच्चारभूमिं च संथारं अदुवासणं।।
दशवैकालिक, ८/१७, नवसुत्ताणि, सं० युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूँ, १९६७, पृ० ६८.

३५. आचारांग, १/५/८९, सं० युवाचार्य मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर।

३६. (अ) एसेहिरिमणे सेगं वत्थं वा धारेज्ज पडिलेहणगं विदियं तत्थ एसे जुग्नि देसे दुवे वत्थाणि धारिज्ज पडिलेहणगं तदियं।
आचारांग, वस्त्रैषणा—उद्धृत भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गाथा ४२३, पृ० ३२४.

(ब) जे णिग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके विरसंघयणे, से एगं वत्थं धारेज्जा, णो बितियं।
—आचारचूला, द्वितीयश्रुतस्कन्ध, २/५/१/२, पृ० १६१।

३७. (अ) हिरिमणे वा जुग्गिदे चावि अण्णगे वा तस्स णं कप्पदि वत्थादिकं पादचारित्तए इति।
— वही, गाथा ४२३, पृ० ३२४।

(ब) जे निग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पायंके थिरसंघयणे, से एगं पायं धारेज्जा, णो बीयं।
—आचारांगसूत्र, आचारचूला, २/६/१/२।

३८. संवच्छरं साहियं मासं, जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं।
अचेलए ततो चाई, तं वोसज्ज वत्थमणगारे।।
—आचारांग, १/९/१/४।

३९. (अ) ण कहेज्जो धम्मकहं वत्थपत्तादिहेदुमिति।
— सूत्रकृतांग, पुंडरीक अध्ययन, उद्धृत भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गाथा ४२३, पृ० ३२४.

(ब) णो पाणस्स (पायस्स) हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। णो वत्थस्स हेउं धम्माइक्खेज्जा। — सूत्रकृताङ्ग, २/१/६८, पृ० ३६६.

४०. (अ) कसिणाइं वत्थकंबलाइं जो भिक्खू पडिग्गहिदि आपज्जदि मासिगं लहुगं।
— निशीथसूत्र, २/२३, उद्धृत भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गाथा ४२३, पृ० ३२४.

(ब) जे भिक्खू कसिणाइं वत्थाइं धरति, धरेंतं वा सातिज्जति।
निशीसिसूत्र, २/२३, उद्धृत भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गाथा ४२३, पृ० ३२४.

४१. भगवती-आराधना, विजयोदया टीका, गाथा ४२३, पृ० ३२४.

४२. भगवती-आराधना में उल्लिखित प्रस्तुत सन्दर्भ वर्तमान आचारांग में अनुपलब्ध है। उसमें मात्र स्थिरांग मुनि के लिये एक वस्त्र और एक पात्र से अधिक रखने की अनुज्ञा नहीं है। सम्भवतः यह परिवर्तन परवर्ती -काल में हुआ है।

४३. (अ) हिरिहेतुकं व होइ देहदुगुंछंति देहे जुग्गिदगे।
धारेज्ज सिया वत्थं परिस्सहाणं च ण विहासीति।।
कल्पसूत्र से उद्धृत— भगवती आराधना, विजयोदया टीका. गाथा ४२३, पृ० ३२४.

(ब) प्रस्तुत सन्दर्भ उपलब्ध बृहत्कल्पसूत्र में प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि वस्त्र धारण करने के इन कारणों का उल्लेख स्थानांगसूत्र, स्थान ३ में निम्न रूप में मिलता है— कप्पति णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा तओ वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा, तंजहा- जंगिए, भंगिए, खोमिए।
— ठाणांग, ३/३४५।

४४. आचारांग, शीलांकवृत्ति, १/७/४, सूत्र, २०९, पृ० २५१।

४५. (अ) भगवती आराधना, विजयोदया टीका, पृ० ३२५-३२६. तुलनीय आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० २७६.
(ब) आवश्यकसूत्र (उत्तरभागं) चूर्णि सहित, ऋषभदेव, केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, १९२९.

४६. भगवती-आराधना, विजयोदया टीका, पृ० ३२६-३२७, पालित्रिपिटक, कन्कोर्डेन्स, पृ० ३४५.

४७. भगवती-आराधना, भाग १ (विजयोदया टीका), गाथा १५७ की टीका, पृ० २०५.

४८. (अ) शाकटायन व्याकरणम्, स्त्री-मुक्तिप्रकरणम् ७, सम्पादक पं०शम्भुनाथ त्रिपाठी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९७१, पृ० १।
(ब) बृहत्कल्पसूत्र ६/९, सम्पादक मधुकर मुनि, ब्यावर, १९९२।

४९. (अ) बृहत्कल्पसूत्र ६/२०.
(ब) पञ्चकल्पभाष्य (आगमसुधासिन्धु), ८१६-८२२।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org